चंगीज़ आइत्मातोव
जमीला

सोवियत लघुकथा पुस्तकमाला

चंगीज़ आइत्मातोव

जमीला

प्रकाशन गृह की ओर से

'जमीला' के दो संस्करण हाथों हाथ बिक गये। हिन्दी पाठकों को यह पुस्तक पसन्द आई, हमें इसकी ख़ुशी है। वैसे इस पुस्तक का अनुवाद संसार की अन्य भाषाओं में भी हो चुका है और वह सभी जगह लोकप्रिय हुई है। इस पुस्तक के फ़्रांसीसी अनुवाद की भूमिका में प्रसिद्ध फ़्रांसीसी लेखक लुई अरागोन ने लिखा है, "'जमीला' इस तथ्य का प्रमाण है कि केवल यथार्थवाद ही प्रेम की कहानी कहने में समर्थ है।" हमारा विश्वास है कि जिन भारतीय पाठकों ने जमीला की कहानी पढ़ी है या जो अब इसे पढ़ेंगे, लुई अरागोन के मत से सहमत होंगे। हम तीसरा संस्करण आपके हाथों में सौंप रहे हैं।

मैं आज फिर चौखटे में जड़े हुए छोटे-से मामूली चित्र के सामने खड़ा हूँ। कल सुबह मैं गाँव के लिए रवाना हो जाऊँगा। बहुत देर से और बहुत ध्यान से मैं इस चित्र को देख रहा हूँ जैसे कि यह मुझे मेरे सफ़र के लिए कुछ नसीहत कर सकता है, मुझे मेरा रास्ता बता सकता है।

इस चित्र का कभी कहीं प्रदर्शन नहीं किया गया। इतना ही नहीं जब सगे-सम्बन्धी मिलने-जुलने आते हैं तो मैं इसे छिपाना कभी नहीं भूलता हूँ। इसे कलाकृति का नाम देना तो सरासर हिमाकत होगी। वैसे यह कुछ ऐसा बुरा चित्र भी नहीं है कि शर्म से आँखें झुक जायें। यह चित्र, इसमें चित्रित धरती की तरह ही साधारण है, मामूली है।

चित्र की पृष्ठभूमि में पतझर के उदास आकाश का एक कोना दिखाया गया है। दूरी पर पर्वतमाला नज़र आती है। वहाँ टेढ़े-तिरछे बादल तेज़ी से उड़ते दिखाई देते हैं और तेज़ हवा मानो उनका पीछा कर रही है। चित्र में, सामने की ओर, लाल-बादामी चिरायते के पौधों से ढँकी स्तेपी है। ऐसा नज़र आता है कि कुछ ही समय पहले पानी बरसा है। बरसात के कारण नम और काली पड़ी सड़क दिखाई देती है। सड़क के किनारे-किनारे सूखी-टूटी काँटेदार झाड़ियों

के ढेर लगे हैं। ज़ोरदार बरसात ने ठेलों-छकड़ों की कच्ची सड़क में जहाँ-तहाँ दरारें डाल दी हैं। इसी कच्ची-टूटी सड़क पर दो यात्रियों के पद-चिह्न दिखाई देते हैं। यह कच्ची सड़क जैसे-जैसे दूर होती है, पद-चिह्न भी हल्के-हल्के होते जाते हैं। ऐसा लगता है कि अगर ये यात्री एक डग और बढ़ें तो चौखटे के पीछे जाकर ग़ायब हो जायेंगे। उनमें से एक यात्री . . . ख़ैर रहने दीजिये, कहानी के आरम्भ में ही भावी घटनाओं की कल्पना करने की क्या जल्दी है।

मैं अभी लड़का ही था कि यह घटना घटी। लड़ाई का वह तीसरा साल था। कहीं दूर – कूर्स्क या ओर्योल के नज़दीक – हम लोगों के बड़े भाई, हमारे पिता दुश्मन से मोर्चा ले रहे थे और हम पन्द्रह-पन्द्रह साल के छोकरे सामूहिक फ़ार्म पर काम करते थे। हमारे हड़ीले, कमज़ोर कन्धों को किसानों का भारी बोझ उठाना पड़ रहा था। फ़सल काटने के दिनों में तो हमें बहुत ही ज़्यादा काम करना पड़ता। हम हफ़्तों-हफ़्तों घर से बाहर रहते, खेत-खलियानों में दिन-रात गुज़ारते या फिर अनाज पहुँचाने के लिए रेलवे-स्टेशनवाली सड़क के चक्कर लगाते।

एक दिन मैं स्टेशन से खाली गाड़ी लिये लौट रहा था। सूरज आग बरसा रहा था, दराँतियाँ फ़सलें काट-काटकर अंगारे जैसी लाल-लाल दिखाई देने लगी थीं। मैंने रास्ते में ही घर पर ठहर जाने का फ़ैसला किया।

गली के ठीक आख़िरी सिरे और घाट के क़रीब एक टीले पर आज भी दो कच्चे मकान हैं। इन मकानों के गिर्द

कच्ची ईंटों की दीवार है। दीवार के आगे पोपलार के लम्बे-लम्बे पेड़ खड़े हैं। ये हमारे घर हैं। बहुत अर्से से हमारे परिवार इन दो मकानों में साथ-साथ रह रहे हैं। मैं बड़े घर के परिवार में से हूँ। मेरे दो भाई थे। वे दोनों ही मुझसे बड़े थे, दोनों ही कुंवारे थे, दोनों ही मोर्चे पर थे और बहुत लम्बे अर्से से हमें दोनों की ही कोई ख़बर-सार न मिली थी।

मेरे पिता बूढ़े थे, बढ़ईगीरी करते थे। तड़के की नमाज़ पढ़कर वे अपनी दूकान पर चले जाते। उनकी दूकान बाहरी अहाते में थी। वे रात होने तक वहीं रहते।

मेरी माँ और छोटी-सी बहन घर पर रहतीं।

हमारे नज़दीकी रिश्तेदार पास के मकान में रहते थे। गाँव के लोग इसे छोटे घर के नाम से पुकारते थे। हमारे दादा-परदादा सगे भाई थे। मगर मैं उन्हें इसलिए नज़दीकी रिश्तेदार कहता हूँ कि वे एक ही परिवार की तरह रहते थे। जब हमारे बुज़ुर्ग ख़ानाबदोश थे तभी से हमारे ये दोनों परिवार इकट्ठे रहते चले आ रहे थे। तब भी वे एक साथ ही अपने ख़ेमे समेटते और पशु चराते थे। हम उसी परम्परा को ज़िन्दा रख रहे थे। जब हमारे गाँव में सामूहिक फ़ार्म बने तो हमारे घरवालों ने साथ-साथ ही मकान बनवाये। दर असल तो पूरी की पूरी आरालस्काया गली में हमारे ही क़बीले के लोग रहते थे। यह गली गाँव के बीच से होती हुई नदी तक जा पहुँची थी और यहाँ हमारे अपने ही वंशज बसते थे।

हम सामूहिक फ़ार्म में शामिल हुए ही थे कि छोटे घर का मालिक चल बसा। वह अपने पीछे अपनी विधवा बीवी और दो छोटे-छोटे बेटे छोड़ गया। हमारे गाँव में अभी भी क़बीले का पुराना रिवाज चालू था। इस रिवाज के अनुसार बेटोंवाली विधवा को अपना क़बीला छोड़ने की मनाही थी। इसलिए यह तय हुआ कि मेरे पिता उस विधवा से शादी कर लें। मेरे पिता ही मरनेवाले के सबसे नजदीकी रिश्तेदार थे और पूर्वजों की इच्छा के प्रति अपना कर्तव्य निभाते हुए वे इसके लिए राज़ी हो गये।

इस तरह एक की जगह हमारे दो परिवार हो गये। छोटे घर के अपने चरागाह और अपने पशु थे। उसे अलग घर-गिरस्ती भी समझा जाता था। मगर वास्तव में हम इकट्ठे ही रहते थे।

छोटे घर के भी दो बेटे लाम पर गये थे। सबसे बड़ा लड़का सादिक़ तो शादी के फ़ौरन बाद ही देशभक्तिपूर्ण युद्ध में चला गया था। हमारे पास इनके पत्र आते थे, मगर कभी-कभार।

छोटे घर में अब 'किची-आपा'–छोटी माँ–और उसकी बहू–सादिक़ की पत्नी ही रहती थीं। वे दोनों ही सुबह से शाम तक सामूहिक फ़ार्म पर काम करतीं। मेरी छोटी माँ मेहरबान, नर्म तबीयत और हँसमुख थी। वह सिंचाई की नालियाँ खोदने से लेकर खेतों में पानी देने तक के हर काम में युवतियों का साथ देती। उसे मेहनती बहू देकर क़िस्मत ने भी बड़ा भारी इनाम दिया था। जमीला भी अपनी सास

के बराबर की चोट थी–बड़ी मेहनती, बड़ी फुर्तीली। मगर स्वभाव में उससे बिल्कुल अलग थी।

मैं जमीला को बेहद प्यार करता था। और वह भी मुझे बहुत चाहती थी। हम दोनों बहुत अच्छे मित्र थे, फिर भी हमें एक दूसरे को नाम लेकर बुलाने की हिम्मत न होती थी। अगर हम दो अलग-अलग परिवारों से होते तो निश्चय ही मैं उसे जमीला कहकर पुकारता। पर वह तो मेरे सबसे बड़े भाई की बीवी थी। इसलिए उसे 'जेने' कहकर पुकारने के सिवा कोई चारा न था। इसी तरह वह भी मुझे 'किचिने-बाला' कहकर बुलाती। किचिने-बाला का मतलब है–छोटा-सा लड़का। वैसे दर हक़ीक़त मैं छोटा-सा लड़का बिल्कुल न था, काफ़ी बड़ा हो चुका था और हम दोनों की उम्रों में बहुत कम फ़र्क़ था। हमारे गाँवों में ऐसा रिवाज ही जो प्रचलित था–भाभियाँ अपने देवरों को किचिने-बाला ही कहती थीं।

मेरी माँ दोनों गिरस्तियों की देखभाल करती। मेरी छोटी बहन माँ का हाथ बंटाती। मेरी छोटी बहन बड़ी ही दिलचस्प लड़की थी। वह रस्सियों से अपनी चोटियाँ बाँधे रहती थी। मुश्किलों-मुसीबतों के उन सालों में इस छोटी-सी लड़की ने बहुत ही कड़ा परिश्रम किया, सख़्त मेहनत की। उसके इस परिश्रम की छाप सदा ही मेरे मन पर अंकित रहेगी। दोनों घरों के मेमने और बछड़े यही लड़की चरागाह में ले जाती और घर में काफ़ी ईंधन जमा रखने के लिए यही लड़की गोबर और सूखी टहनियाँ आदि इकट्ठी करती।

यही मेरी चपटी नाकवाली छोटी-सी बहन मेरी माँ का मन बहलाती, उसकी उदासी दूर करती। मेरी माँ के दिल में मेरे बड़े भाइयों के बारे में तरह-तरह के बुरे ख़्याल आते रहते। मोर्चे से उनकी कोई ख़बर जो न आयी थी।

हमारे इस बड़े परिवार के आपसी मेल-जोल और समृद्धि का बहुत कुछ श्रेय मेरी माँ को था। वही दोनों घरों की एकचछत्र गृह-स्वामिनी थी, दोनों घरों का प्रबन्ध-भार उसी के कन्धों पर था। वह हमारे ख़ानाबदोश परदादाओं के समय में हमारे परिवार में एक छोटी-सी लड़की के रूप में आयी थी। दोनों परिवारों पर न्यायपूर्ण शासन करती हुई, वह अक्सर हमारे पुरखों को याद करती। वह बहुत समझ-बूझ, न्याय और कुशलता से घर-गिरस्ती का काम चलाती। उसके इन गुणों के कारण गाँव-भर में उसकी धाक थी। माँ ही घर की सर्वेसर्वा थी। सच तो यह है कि गाँववाले हमारे पिता को तो घर का मुखिया ही न मानते थे। वे अक्सर कहते— "आह, 'उस्ताक़ा' के पास जाकर क्या करोगे,"—कारीगर के लिए हम इसी उस्ताद-आक़ा के संक्षिप्त शब्दों का प्रयोग करते हैं,—"वह तो सिर्फ़ कुल्हाड़ा चलाना जानता है। बड़ी माँ ही सब कुछ करती-धरती है। सीधे उसी से जाकर बात कर लो।"

छोटी उम्र होते हुए भी मैं घर-गिरस्ती की बातों में टाँग अड़ाता रहता था। मुझे सिर्फ़ इसी लिए इसकी इजाज़त थी कि मेरे दोनों बड़े भाई लड़ाई में गये हुए थे। अक्सर मज़ाक़ में, मगर कभी-कभी संजीदगी से भी मुझे दोनों

परिवारों का जीगित* कहकर पुकारा जाता। मुझे दोनों परिवारों का रक्षक और अन्नदाता कहा जाता। अपने बारे में ऐसे शब्दों का प्रयोग सुनकर मेरी छाती गर्व से फूल जाती। मैं यह अनुभव करने लगता कि जैसे परिवार की गाड़ी मेरे ही सहारे चल रही है। मेरी माँ भी मुझमें इस स्वतन्त्रता की भावना के विकास को प्रोत्साहन देती। वह चाहती थी कि मैं एक बढ़िया किसान बनूँ। मुझमें फ़ुर्ती-चुस्ती आये, और मुझमें महत्त्वाकांक्षायें जागें। वह नहीं चाहती थी कि मैं अपने पिता के पद-चिह्नों पर चलूँ जो अपनी दूकान के कोने में चुपचाप बैठकर दिन भर आरी और रन्दा चलाते हैं।

हाँ तो मैंने अपना ठेला बेंत के पेड़ की छाया में खड़ा किया, पट्टे ढीले किये और आँगन की तरफ़ बढ़ गया। वहाँ जाते ही मेरी नज़र हमारे दल के मुखिया उरुज़मत पर पड़ी। वह घोड़े पर सवार था और उसकी बैसाखी सदा की भाँति काठी के साथ बँधी थी। मेरी माँ उसके पास खड़ी थी। वे किसी मामले पर बहस कर रहे थे। मैं जब क़रीब पहुँचा तो माँ को कहते सुना—

"यह हरगिज़ नहीं हो सकता! तुम्हारे दिल में क्या अल्लाह का ज़रा भी डर-ख़ौफ़ नहीं रहा? औरत, और ठेले में अनाज की बोरियाँ लादकर ले जाये? कभी कहीं तुमने ऐसा देखा-सुना भी है? नहीं, नहीं यह नहीं हो सकता। तुम तो भले आदमी हो, मेरी बहू को इस पचड़े में मत डालो।

---

*जीगित—बढ़िया घुड़सवार और जवानमर्द।

वह जो कुछ करती है उसे वही कुछ करने दो। मुझे तो वैसे ही सुबह से शाम तक होश नहीं आती। एक नहीं दो-दो गिरस्तियों का प्रबन्ध करना होता है! यह तो अच्छा ही है कि मेरी बेटी खासी बड़ी हो गयी है और काम-काज में काफ़ी हाथ बटा देती है। एक हफ़्ते से पीठ तक सीधी नहीं कर पायी हूँ, इस बुरी तरह दर्द कर रही है मानो कई दिनों से क़ालीन बुनती रही हूँ। और ज़रा फ़सल की तरफ़ तो देखो। पानी के बिना सभी बालें सूखी जा रही हैं!" माँ ने ये सभी बातें अपनी पगड़ी का सिरा कालर के नीचे दबाते हुए बड़े जोश के साथ कहीं। अपनी पगड़ी का सिरा कालर के नीचे दबाने का मतलब था कि वह गुस्से में है।

"यह आज तुम्हें हुआ क्या है!" उरुज़मत आगे की ओर झुकते हुए हताश होकर बोला। "अगर इस ठूँठ की जगह मेरी टाँग क़ायम होती तो तुम क्या समझती हो कि मैं कभी तुम्हारे पास आता? अरे, मैं तो ख़ुद ही ठेले में बोरियाँ डालता, घोड़ों पर चाबुक सटकारता और अनाज लेकर हवा हो जाता! आख़िर कभी मैं यह करता भी तो रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि यह औरतों के करने लायक़ काम नहीं है। मगर मैं मर्द लाऊँ, तो कहाँ से? इसी लिए हमने फ़ौजियों की बीवियों से यह काम लेने का फ़ैसला किया है। तुम अपनी बहू भेजने को तैयार नहीं हो और उधर वह फ़ार्म का अध्यक्ष मेरे सिर पर सवार है...फ़ौजियों को रोटी चाहिए और यह कि हम योजना गड़बड़ किये दे रहे हैं। क्या तुम यह भी नहीं समझ सकतीं?"

चाबुक ज़मीन पर घसीटते हुए मैं इनके पास पहुँचा। दल के मुखिया ने जैसे ही मुझे देखा कि उसकी बाछें खिल गयीं। ज़ाहिर है कि उसे कोई बात सूझ गयी थी।

"तुम अपनी बहू के बारे में बहुत ही ज़्यादा डरती हो। और किसी पर नहीं तो उसके किचिने-बाला पर तो भरोसा कर ही सकती हो। वह किसी को उसके पास तक भी फटकने नहीं देगा।" और उसने ख़ुश होकर मेरी तरफ़ इशारा किया। "तुम ज़रा भी फ़िक्र न करो! सईद भला लड़का है। इसके जैसे भले लड़के ही तो हमारे असली अन्नदाता हैं, यही तो हमारी भँवर में फँसी नाव पार लगा रहे हैं..." मेरी माँ ने उसे टोका।

"हाय अल्लाह! ज़रा अपनी सूरत तो देखो, आवारों जैसी!" वह मेरी तरफ़ इशारा करके चिल्ला उठी। "और तुम्हारे बाल! वे तो घोड़े के अयाल की तरह बढ़े हुए हैं! तुम्हारा बाप भी ख़ूब आदमी है—उसे बेटे का सिर मूँड़ने का भी वक़्त नहीं मिलता..."

"तो ठीक है आज बेटा माँ-बाप के पास ही आराम करे। और तुम इसका सिर भी मुँड़वा देना," उरुज़मत ने मेरी माँ के लहजे में ही कहा। "सईद, आज तुम यहीं टिको, घोड़ों को खिलाओ-पिलाओ और कल सुबह हम जमीला को भी एक ठेला दे देंगे। तुम उसके साथ काम करोगे। मगर यह समझ लो, उसकी पूरी ज़िम्मेदारी तुम्हीं पर ही होगी। अब तुम बिल्कुल बेफ़िक्र हो जाओ बाईबच्चे*, सईद उसकी

*बाईबच्चा—बड़ी पत्नी और गृह-स्वामिनी।

अच्छी तरह हिफ़ाजत करेगा। इतना ही नहीं, मैं तो दनियार को भी इनके साथ कर दूँगा। उसे तो तुम जानती ही हो। बिल्कुल गऊ है गऊ! वही जो अभी सेना से वापस भेजा गया है। ये तीनों मिलकर रेलवे-स्टेशन पर अनाज पहुँचा दिया करेंगे। और फिर तुम्हारी बहू के क़रीब जाने की हिम्मत ही भला कौन करेगा? मैं ठीक कह रहा हूँ न? तुम्हारी क्या राय है, सईद? हम जमीला को गाड़ीबान बनाना चाहते हैं। मगर तुम्हारी माँ तो यह सुनने तक को तैयार नहीं है। तुम ही इसे राज़ी करने की कोशिश करो।"

उरुज़मत की तारीफ़ से मैं तो फूलकर कुप्पा हो गया था। फिर उसने मुझे सयाना-समझदार आदमी समझते हुए मेरी राय पूछी थी। इतना ही नहीं यह ख़्याल भी मेरे दिमाग़ में कौंध गया कि जमीला के साथ स्टेशन तक ठेला ले जाने में बहुत मजा रहेगा। बहुत संजीदा-सा चेहरा बनाकर मैंने माँ से कहा—

"तुम फ़िक्र न करो, कुछ नहीं होगा उसे! रास्ते में कहीं भेड़िये नहीं हैं।"

इतना कहकर मैंने बड़ी लापरवाही से पेशेवर गाड़ीबानों की तरह दाँत भींचकर थूका। अपने-आपको बड़ा भारी तीसमार-खाँ जाहिर करता और अपने पीछे चाबुक घसीटता हुआ मैं शान से आगे बढ़ गया।

"ज़रा सुनो तो इसकी बात!" मेरी माँ हैरान होकर चिल्लायी। मुझे लगा कि मेरी बात उसे पसन्द आयी है, कि वह ख़ुश है। मगर तभी वह ग़ुस्से में बोली—"तुम भला

क्या जानते हो भेड़ियों के बारे में! बड़े आये तीसमार-खाँ!"

"अगर वह नहीं तो और कौन जानता है—वही तो दोनों परिवारों का जीगित है। तुम इसपर गर्व कर सकती हो!" उरुज़मत ने मेरा पक्ष लेते हुए कहा। वैसे उसकी नज़र मेरी माँ के चेहरे पर ही टिकी थी कि वह कहीं फिर से हठ न ठान ले।

मगर मेरी माँ ने कोई एतराज़ न किया। वह यकायक ही उदास हो गयी। उसने गहरी साँस लेकर कहा—

"जीगित-जीगित तो ख़ैर वह क्या है। वह तो अभी बच्चा ही है। मगर फिर भी दिन-रात ख़ून-पसीना एक करता रहता है। सिर्फ़ अल्लाह ही जानता है कि हमारे जीगित कहाँ हैं। हमारे घर तो वीरान ख़ेमों जैसे हो गये हैं..."

मैं अब कुछ दूर जा चुका था। इसलिए अपनी माँ के और शब्द न सुन सका। मैंने मकान के कोने पर चाबुक सटकारा, धूल का बादल उड़ाया और झटपट दरवाज़े की तरफ़ बढ़ गया। अपनी बहन की मुस्कान की तरफ़ ध्यान देने की भी मैंने परवाह न की। वह आँगन में ईंधन के लिए उपले थाप रही थी। मैं सायबान में ठिठका और एक घड़े से पानी उँडेलकर मैंने हाथ धोये। फिर मैं कमरे में गया। कमरे में जाकर मैंने दही का एक प्याला पिया। दही से भरा दूसरा प्याला मैंने खिड़की की ओटक में रखा और उसमें रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े डालने लगा।

मेरी माँ और उरुज़मत अभी भी अहाते में थे। अब

उनमें बहस नहीं हो रही थी। वे शान्त भाव से धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। ज़रूर मेरे भाइयों की ही चर्चा हो रही थी। मेरी माँ अनमने मन से उरुज़मत की बातें सुनती हुई सिर हिलाती और आस्तीन से आँखें पोंछती जा रही थी। ज़ाहिर है कि उरुज़मत उसे तसल्ली दे रहा था। मेरी माँ ने पेड़ों की चोटियों के ऊपर से दूर तक ऐसे नज़र दौड़ाई मानो उसकी बदली-घिरी, बरसती आँखें वहाँ अपने बेटों को देखना चाहती हों।

माँ का मन तो उदासी भरे ख़्यालों में डूबा-उलझा रहता था। मुझे लगा कि आख़िर वह उरुज़मत की बात मान ही गयी है। उरुज़मत का उद्देश्य पूरा हो गया था। वह ख़ुश था। उसने अपने घोड़े पर चाबुक फटकारा और अहाते से बाहर हो गया।

ज़ाहिर है कि उस वक़्त न तो मैं और न मेरी माँ ही यह जानती थी कि आगे चलकर इसका क्या नतीजा होगा।

जमीला दो घोड़ों का ठेला चला लेगी इसका मुझे पूरा भरोसा था। वह बहुत बढ़िया घुड़सवार थी। वह बेक़ईर नामक पहाड़ी गाँव के नस्ली घोड़े पालनेवाले की बेटी थी। हमारा सादिक़ भी घोड़े पालता था। अक्सर यह सुनने में आया था कि वसन्त की घुड़-दौड़ों में वह जमीला से बाज़ी हार गया था। शायद यह सच था मगर हमने यह भी सुना था कि जमीला से मात खाकर वह शर्म से पानी-पानी हो गया था और उसे भगा लाया था। कुछ दूसरे

लोग इसे प्रेम-विवाह भी बताते थे। ख़ैर कुछ भी हो उनकी शादी को अभी चार महीने ही हुए थे कि लड़ाई छिड़ गयी और सादिक़ मोर्चे पर चला गया।

सही कारण तो मैं नहीं जानता, मगर इतना जानता हूँ कि जमीला में मर्दोंवाली कुछ-कुछ बात तो ज़रूर थी। उसमें मर्दों की सी तलख़ी-तेज़ी और यहाँ तक कि मर्दों का सा गँवारपन भी था। वह काम भी करती थी तो मर्दों ही की तरह डटकर। शायद इसका कारण यह था कि जमीला ने बचपन से ही अपने बाप के साथ चरागाहों में घोड़े चराये थे। वह माँ-बाप की इकलौती सन्तान थी और इसलिए बाप की नज़र में वही बटा थी, वही बेटी भी। वैसे तो वह दूसरी औरतों से अच्छे ढंग से पेश आती पर अगर कोई बिला वजह ही उसके गले पड़ने की कोशिश करती तो उसकी दाल न गलने देती। ऐसे मौक़े भी आये कि उसने ग़ुस्से से आगबबूला होकर दूसरी औरतों के बाल तक नोच डाले।

पड़ोसिनें शिकायत करने आतीं –

"जाने कैसी है यह तुम्हारी बहू! अभी कल ही तो इसने तुम्हारी दहलीज़ में पाँव रखा है और एक ही दिन में उसकी गज़-भर लम्बी जीभ भी हो गयी है! न किसी की इज्ज़त करती है, न किसी का लिहाज़। न उसमें बहुओं जैसा सलीक़ा है न हलीमी।"

"मैं ख़ुश हूँ कि यह ऐसी है!" मेरी माँ जवाब देती। "हमारी बहू तो दूसरे के मुँह पर ही साफ़-साफ़ और सच-सच कह देती है। पीठ पीछे बुराई करते फिरने से तो यह

कहीं अच्छा है। कम से कम वह तुम्हारी बेटियों की तरह तो नहीं है कि मन में कुछ और मुँह में कुछ। तुम्हारी बेटियाँ तो मन में जहर दबाकर मुँह में शक्कर घोला करती हैं। तुम्हारी बेटियों को तो मैं सड़े हुए अण्डे की तरह समझती हूँ – ऊपर से चिकनी-चुपड़ी और अन्दर? अन्दर सड़ायँध ही सड़ायँध! पास जानेवाले को नाक बन्द करनी पड़ती है।"

सास-ससुर अक्सर बहुओं से कड़ाई से पेश आते हैं, उन्हें दबाकर रखते हैं। मगर मेरे पिता और मेरी छोटी माँ जमीला से ऐसा बर्ताव न करते। वे उससे नर्मी से पेश आते और प्यार करते। उनकी सिर्फ़ एक ही चाह थी कि वह अल्लाह और अपने पति के प्रति वफ़ादार और ईमानदार रहे।

मैं अपनी छोटी माँ और पिता को खूब समझता था। उन्होंने चार जवान बेटे लड़ाई में भेजे थे। जमीला को देखकर ही उन्हें कुछ चैन मिलता था। दोनों घरों में वही एक तो बहू थी। इसी लिए उन्हें उसकी इतनी ज्यादा फ़िक्र रहती थी। मगर मुझे हैरानी होती थी तो अपनी माँ के बारे में। वह किसी पर आसानी से अपना प्यार लुटाने लगे, ऐसा बहुत कम ही होता था। मेरी माँ बड़ी तेज़-तरार औरत थी। दूसरों पर अपना दबदबा रखना उसे बहुत पसन्द था। उसने अपने ही कुछ उसूल बना रखे थे। वह हमेशा उनपर अमल करती थी। मसलन बसन्त आता तो वह अपना खानाबदोशों का पुराना खेमा अपने आँगन में जरूर गाड़ती। यह खेमा मेरे पिता ने अपनी जवानी के दिनों में बनाया था। माँ

इस खेमे में जुनीपर की शाखें भी जरूर जलाती। उसने हमें डटकर मेहनत और बड़ों की इज्ज़त करना सिखाया। परिवार के हर आदमी के लिए उसके इशारों पर नाचना लाज़िमी था।

जमीला तो शुरू दिन से ही आम बहुओं जैसी नहीं थी। बेशक वह अपने बड़ों की इज्ज़त करती थी, उनका हुक्म मानती थी, मगर उनके सामने पूरी तरह घुटने टेकना उसे क़तई पसन्द न था। दूसरी जवान बहुओं की तरह वह पीठ पीछे अपने बड़ों की निन्दा-चुगली भी न करती थी। वह जैसा समझती-सोचती, खुलकर कहती। अपने मन की बात को मन में दबाना-घोटना और डरना तो वह जानती ही न थी। मेरी माँ अक्सर उसका साथ देती, उससे सहमत होती, मगर अन्त में करती अपनी मनमानी ही।

मुझे यक़ीन है कि वह मन ही मन जमीला को बहुत मानती थी। उसकी साफ़गोई, उसकी ईमानदारी में वह अपने ही मन की तस्वीर देखती थी। वह मन ही मन जमीला को अपने जैसी धड़ल्लेदार गृह-स्वामिनी, अपने जैसी बाईबच्चे बनाने के सपने देख रही थी।

"अल्लाह का एहसान मानो, बेटी, कि बुहारी की तरह बँधे, घुले-मिले और अच्छे परिवार में आ गयी हो।" मेरी माँ अक्सर यह दोहराती। "यह तो तुम्हारी खुशक़िस्मती है। औरत की खुशी तो इसी में है कि बच्चे जने और भरे-पूरे परिवार में रहे। खुदा का शुक्र करो हम बूढ़ों ने जो बीज बोये हैं, तुम्हें ही तो उसके फल मिलेंगे। मगर खुशी उन

लोगों को ही मिलती है जो अपनी इज्जत पर धब्बा नहीं लगने देते, अपना दिल और दामन पाक रखते हैं। मेरी यह बात गाँठ बाँध लो और सम्भल कर रहो!"

फिर भी जमीला में कुछ ऐसी बात थी कि उसकी दोनों सासें उसके बारे में परेशान रहती थीं। वह बहुत चंचल, बहुत जिन्दादिल थी। बिल्कुल बच्चों का सा व्यवहार करती थी। वह कभी-कभी अचानक ही ठठाकर हँस देती, बिना किसी कारण के ही चहकने लगती। काम से लौटती तो थकी-टूटी और मुरझाई-सी होने के बजाय सिंचाई की खाई को फाँदती हुई धड़ाधड़ अहाते में आ खड़ी होती। ऐसे बिला वजह ही वह पहले एक और फिर दूसरी सास के गले में बाँहें डाल देती और उन्हें चूमने लगती।

जमीला को गाने का बड़ा शौक़ था। वह हमेशा ही कुछ न कुछ गुनगुनाती रहती। बड़ों की हाज़िरी में भी किसी तरह की झिझक, कोई शर्म महसूस न करती। ज़ाहिर है कि हमारे गाँव-गँवई के लोगों के लिए ऐसी बहू एक अजीब-सी बात थी। मगर दोनों सासें यह कहकर अपने दिल को दिलासा देतीं कि कोई बात नहीं, अभी बच्ची ही तो है। बड़ी होकर सम्भल जायेगी। उसकी उम्र में हम भी तो ऐसी ही थीं। अब अपनी बात कहूँ। मेरे लिए तो जमीला से बढ़कर दुनिया-भर में कोई दूसरा न था। हम दोनों ख़ूब ही हँसते-खेलते। खिल-खिलाते-हँसते हुए हम अहाते में एक दूसरे के पीछे भागते रहते।

जमीला बहुत ही सुन्दर थी। उसका जिस्म गठा हुआ था, उसमें एक ख़ास खिंचाव था। वह अपने सीधे मोटे

बालों की कसी हुई और भारी-भारी दो चोटियाँ गूँथती और एक कोण-सी बनाती हुई माथे पर सफ़ेद रूमाल बाँधती। उसके साँवले रंग पर यह तो बहुत ही बहार देता। वह मुस्कराती तो बादाम जैसी उसकी नीली-काली आँखों में शरारत भरी चमक नाच उठती। फिर जब कभी वह अचानक ही किसी चुहल भरे देहाती गाने की तान छेड़ देती तो उसकी प्यारी-प्यारी आँखें साकार-चुहल बन जातीं।

युवा जीगित और ख़ासकर मोर्चे से लौटे जवान तो जमीला को देखते ही लट्टू हो जाते थे। यह मैंने अक्सर देखा था। जमीला मज़ाक़ दिल्लगी पसन्द करती थी। मगर जैसे ही कोई सीमा लाँघकर आगे बढ़ने की कोशिश करता वह उसे फ़ौरन ही टोक देती। ख़ैर मुझे तो यह हमेशा ही नागवार गुज़रता। छोटे भाई अक्सर अपनी बहनों से ईर्ष्या करते हैं। जमीला के मामले में यही हाल मेरा था। जैसे ही मैं किसी नौजवान को उसके क़रीब-क़रीब मण्डराते देखता, झट से बीच में आ धमकने की पूरी कोशिश करता। मेरी आँखों में ख़ून उतर आता और मैं नफ़रत से उसे घूरता। मेरी आँखें गोया यह कहतीं—"मियाँ, ज़रा आगा-पीछा सोच लो। वह मेरे भाई की बीवी है। यह मत समझना कि उसकी देख-भाल करनेवाला कोई नहीं है!"

ऐसे मौक़ों पर मैं जमीला से बहुत ही घुलमिलकर बातें करने लगता। इस तरह मैं जमीला के चाहनेवालों पर यह जमाता कि जमीला मेरे बहुत ही नज़दीक है और इन प्रेमदीवानों की खिल्ली उड़ाने की कोशिश करता। जब कभी

मेरा बस न चलता तो मैं आपे से बाहर हो जाता, अपने बाल इधर-उधर बिखरा डालता और गुस्से से पागल साँड़ की तरह फुंकारता हुआ मैदान छोड़कर पीछे हट जाता।

नौजवान ज़ोर का ठहाका लगाते –

"ज़रा इसे तो देखो! अरे हाँ यह तो ज़रूर इसी की जेने है। लगता है न ऐसा ही! अरे हम तो कभी भूलकर इसकी कल्पना भी न कर पाते!"

मैं अपने पर क़ाबू पाने की पूरी कोशिश करता। मगर मेरे धोखेबाज़ कान जैसे जलते हुए मुझे मेरी असली हालत का एहसास करवाते। दुख और चोट के आँसू आँखों में छलछला आते। मगर जमीला, मेरी जेने तो मेरे दिल की हालत अच्छी तरह समझती थी। वह अपनी हँसी के फ़व्वारे को अन्दर ही अन्दर दबाकर बड़ी धीर-गम्भीर हो जाती। वह बड़े मज़ेदार अन्दाज़ में उनसे पूछती –

"और तुम क्या समझते हो ज़बान हिलाने-भर से जेने मिल जाती है? शायद तुम्हारे यहाँ ऐसा होता हो मगर यहाँ तो मुँह धो रखो! चलो किचिने-बाला, इन्हें झख मारने दो!" और उन नौजवानों को जता-दिखाकर वह गर्व से पीछे की तरफ़ सिर झटक देती, उन्हें चिढ़ाकर कन्धे झटकाती और जैसे ही हम एक साथ रवाना होते वह दबे-दबे मुस्करा देती।

उसकी इस मुस्कान में खीझ भी होती, ख़ुशी भी। शायद वह यह सोचती – "नादान छोकरे! अगर मैं चाहूँ तो क्या कोई मुझे रोक सकता है? तुम तो क्या, सारा

परिवार भी अगर मेरी जासूसी करे तो क्या होता है! मैं फिर भी मनमानी कर सकती हूँ!" ऐसे अवसरों पर मैं जैसे कि पाप का पश्चात्ताप करता हुआ चुप्पी साध लेता। बेशक मुझे जमीला से ईर्ष्या होती थी, मैं उसका भक्त था, पुजारी था। मुझे इस बात का गर्व था कि वह मेरी जेने है। मुझे उसकी ख़ूबसूरती, उसकी आज़ाद, बेधड़क तबीयत पर नाज़ था। हम दोनों बेहतरीन दोस्त थे। हमारे बीच कोई दुराव-छिपाव न था।

लड़ाई के दिनों में गाँव में कुछ इने-गिने जवान लोग रह गये थे। कुछ नौजवान इस मौक़े का फ़ायदा उठाते हुए बेहूदगी की हद तक जा पहुँचे। वे औरतों को हिक़ारत की नज़र से देखते और जैसे कि यह कहते नज़र आते – "कौन परवाह करता है इनकी? जिसे इशारा कर देंगे वही भागी आयेगी।"

घास सुखाने का मौसम था। हमारे एक दूर के रिश्तेदार ऊसमान ने जमीला से छेड़-छाड़ शुरू की। वह अपने-आपको यूसुफ़ मानता था। उसका ख़्याल था कि हर औरत पर उसका जादू चल सकता है। जमीला ने ग़ुस्से से उसका हाथ झटक दिया। वह सूखी घास की टाल की छाया में ज़मीन पर लेटी हुई आराम कर रही थी। अब उठकर खड़ी हो गयी।

"ख़बरदार जो मुझे हाथ लगाया!" उसने बिगड़कर कहा और ग़ुस्से में पीछे हट गयी। "वैसे तुम जैसे आवारा साँड़ों से किसी को और उम्मीद ही क्या हो सकती है!"

ऊसमान सूखी घास की टाल के क़रीब भद्दे ढंग से टाँगें फैलाकर लेटा हुआ था। उसके तर होंठ घृणा से मुड़े हुए थे।

"जो अंगूर लोमड़ी की पहुँच के बाहर होते हैं उन्हें वह हमेशा खट्टे ही बताती है। मगर इतनी उछल-कूद करने की भी क्या पड़ी है? मैं शर्त लगाकर कह सकता हूँ कि तुम्हारे मुँह में तो पानी भर-भर आ रहा है। फिर यह नाज़-नख़रा किसलिये?"

जमीला ग़ुस्से में घूमी।

"शायद आ ही रहा है मेरे मुँह में पानी। मगर हमारी क़िस्मत में ही यदि यह लिखा है तो हो ही क्या सकता है। पर तुम जरूर बेवक़ूफ़ हो कि तुम्हें मजाक़ के सिवा कुछ सूझ ही नहीं रहा। मैं सौ बरसों तक किसी फ़ौजी की बेवा बनकर रह सकती हूँ पर फिर भी तुम्हारे जैसे के मुँह पर थूकने को भी तैयार न हूँगी। तुम्हारी तो सूरत देखकर ही मुझे मतली होने लगती है। यह निगोड़ी जंग न छिड़ी होती तो देखती कि तुम्हें दो टके को भी कौन पूछता!"

"यही तो मैं भी कह रहा हूँ! जंग छिड़ी हुई है और ख़सम के डण्डे के बिना तुम्हारा दिमाग़ ख़राब हुआ जा रहा है!" ऊसमान बनावटी हँसी हँसा। "आह, कहीं तुम मेरी बीवी होतीं, तब तुम्हारा बात करने का ढंग दूसरा ही होता।"

जमीला उसपर बरसना चाहती थी, मगर चुप्पी लगा गयी। उसने उसे झगड़ा करने के क़ाबिल न समझा। जमीला

की नजरों में नफ़रत ही नफ़रत थी। हताश होकर उसने थूका, तँगली उठायी और वहाँ से चल दी।

मैं सूखी घास की टाल के पीछे ठेले में था। जमीला ने मुझे देखा कि तेज़ी से परे हट गयी। वह मेरे दिल की हालत समझती थी। मैं महसूस कर रहा था कि उसकी नहीं मेरी बेइज्जती की गयी है, मेरे मुँह पर थूका गया है। कुछ और बस चलता न देखकर मैं मन ही मन जमीला पर ही बरस पड़ा —

"ऐसे लोगों से तुम्हें लेना-देना ही क्या होता है? तुम इन्हें मुँह ही क्यों लगती हो?"

इसके बाद जमीला उस दिन बादल की तरह घुटी-घुटी अन्दर ही अन्दर उमसती रही। मुझसे उसने बात ही न की। हमेशा की तरह हँसी-खिली भी नहीं। मैं ठेला उसके सामने ले गया तो उसने चारे की टाल में अपनी तँगली डाली और उसकी ओट में मुँह करके ठेले की तरफ़ चली गयी। वह अपना मुँह छिपाये रखना चाहती थी। वह नहीं चाहती थी कि मैं उसके दिल में कसकते दर्द की चर्चा करूँ। वह चारे की ढेरी ठेले में ठोंसती और दूसरी ढेरी लाने के लिए झटपट वापस भाग जाती। ठेला बहुत जल्द ही भर गया। ठेला हाँकते-हाँकते मैंने घूमकर उसकी तरफ़ देखा। वह ख़्यालों में डूबी-खोयी निराश-हताश-सी काँटे के दस्ते पर झुकी हुई थी। फिर वह एकदम चौंककर सम्भली और अपने काम में जुट गयी।

हमने जब आख़िरी ठेला भी भर लिया तो जमीला देर

तक डूबते सूरज को देखती खड़ी रही। उसे तो जैसे दीन-दुनिया की सुध ही न रही थी। दूर, नदी के पीछे क़ज़ाख़ स्तेपी के ठीक सिरे पर थका-हारा सूरज तन्दूर के मुँह की तरह जल-दहक रहा था। वह बहुत धीरे-धीरे क्षितिज के नीचे जा रहा था। वह बिखरे-फटे बादलों में नारंगी रंग भरता हुआ लाल-लाल स्तेपी पर अपनी आख़िरी किरणों का भण्डार लुटा रहा था। स्तेपी की घाटियों में तो झुटपुटे की नीलिमा छा भी चुकी थी। जमीला ने डूबते सूरज को आँख-भर देखा और चहक उठी। वह तो जैसे कोई जादू-टोना, कोई अजूबा देख रही थी। उसके चेहरे पर मृदुलता चमक उठी, उसके खुले होंठ एक बालक की भाँति धीरे से मुस्कराये। मैं उसे भला-बुरा कहकर अपने दिल का गुबार निकाल नहीं पाया था। डाँट-फटकार के बहुत से शब्द अभी तक मेरी ज़बान पर चक्कर काट रहे थे। जमीला ने जैसे इन अनकही बातों का जवाब देते हुए और जैसे कि हमारी बातचीत जारी रखते हुए कहा—"उसके बारे में कुछ न सोचो, किचिने-बाला। कुछ ध्यान न दो उसकी तरफ़! तुम क्या सचमुच उसे इन्सान समझते हो?" डूबते सूरज के सिरे को ध्यान से देखते हुए जमीला चुप हो गयी। फिर उसने एक गहरी साँस ली और गहरे ख्यालों में डूबी हुई सी कहती गयी—"ऊसमान जैसे लोग भला यह कैसे जान सकते हैं कि इन्सान की आत्मा में क्या-क्या छिपा है? कोई भी यह नहीं जान सकता... शायद सारी दुनिया में ऐसा कोई है ही नहीं..."

मैं अपने घोड़े मोड़ रहा था कि जमीला औरतों की एक टोली की तरफ़ भाग गयी। मुझे उनकी ख़ुशीभरी, गूँजती-चहकती आवाज़ सुनाई दी। उसमें अचानक ही यह जो परिवर्तन हुआ उसका कारण बताना मुश्किल है। शायद डूबते सूरज के नज़ारे से उसे राहत मिली थी या शायद दिन-भर के काम के बाद उसका मनमोर नाच उठा था। मैं भूसे से लदे ठेले पर काफ़ी ऊँचा बैठा हुआ जमीला को गौर से देख रहा था। उसने अपने सिर से सफ़ेद रूमाल खींच लिया और फ़सल कटे मटमैले खेतों में अपनी सहेलियों के पीछे दौड़ने लगी। उसके हाथ मस्ती में लहरा रहे थे और हवा उसकी पोशाक के छोर थपथपा रही थी। अचानक मेरे मन से उदासी के बादल छँट गये—"गोली मारो इस ऊसमान के बच्चे को!"

"चलो बेटो!" घोड़ों पर चाबुक फटकारते हुए मैं चिल्लाया।

उस दिन मैंने टीम-लीडर की सलाह मानकर पिता के घर आने का इन्तज़ार किया। मैं अपनी हजामत करवाना चाहता था। पिता के आने तक मैं अपने भाई सादिक़ के ख़त का जवाब लिखने बैठ गया। ख़तों के मामले में भी कुछ अलिखित नियम थे। मेरे भाई पिता के नाम ख़त लिखते, गाँव का डाकिया ये ख़त लाकर देता माँ को और इन्हें पढ़ना और जवाब देना, यह काम था मेरे जिम्मे। सादिक़ का ख़त पढ़े बिना ही मैं उसका मज़मून भाँप जाता

था। कारण कि उसके सभी ख़त एक ही ढंग के होते थे–रेवड़ के मेमनों की तरह। सादिक़ हमेशा ही अपना पत्र "मंगल कामनाओं" से आरम्भ करता। इसके बाद लिखता–"मैं डाक द्वारा अपना यह ख़त तलस वाली फूलती-फलती और महकती धरती में रहनेवाले अपने सगे-सम्बन्धियों, अपने बहुत ही प्यारे, बहुत ही सम्मानित पिता जोलचूबाई के नाम भेज रहा हूँ..." फिर वह मेरी माँ, अपनी माँ और एक निश्चित क्रम से हम सबकी चर्चा करता। इसके बाद अनिवार्य रूप से हमारे क़बीले के आक़साक़ालों* और नजदीकी रिश्तेदारों की कुशल-क्षेम के बारे में प्रश्न होते। आखिर में और वह भी जैसे जल्दी में सादिक़ यह एक वाक्य भी जोड़ देता–"मेरी बीवी जमीला को मेरी तरफ़ से सलाम।"

ख़त का इस तरह लिखा जाना तो था भी स्वाभाविक ही। जब माँ-बाप जिन्दा थे, गाँव जब आक़साक़ालों और नज़दीकी रिश्तेदारों से भरा पड़ा था तो ख़त के शुरू में ही बीवी का ज़िक्र करने का सवाल ही कैसे पैदा हो सकता था? ऐसा करना तो बहुत अनुचित भी होता। सीधे बीवी के नाम ख़त लिखने की तो खैर बात सोचना ही बेकार था। न सिर्फ़ सादिक़ ही बल्कि आत्मसम्मान रखनेवाला हर आदमी यही राय रखता था। यह जानी-मानी रीति थी। कभी किसी ने इसके ख़िलाफ़ आवाज न उठायी थी। इसपर

*आक़साकाल –सम्मानित लोग।

बहस करने का तो खैर सवाल ही क्या था, हमने तो कभी भूलकर यह भी न सोचा था कि यह सही है या गलत। उन दिनों तो ख़त का आना ही बहुत बड़ी बात थी। बहुत लम्बे इन्तज़ार के बाद तो ख़त आता था और जब आता था तो ढेरों ख़ुशियाँ लेकर।

मेरी माँ मुझसे कई-कई बार हर ख़त पढ़वाती। फिर जैसे धार्मिक श्रद्धा-आस्था के काम कर-करके सख़्त हुए हाथों में वह कागज़ का टुकड़ा थाम लेती। वह इसे इस तरह अटपटे-अजीब ढंग से हाथ में लेती मानो वह ख़त न होकर कोई परिन्दा हो, उड़ने के लिए पंख फड़फड़ा रहा हो। बहुत मुश्किल से ही उसकी अकड़ी हुई उँगलियाँ आखिर उस ख़त को तिकोनी तह दे पातीं।

"आह, लाड़लो, हम तुम्हारे ख़तों को तावीज़ की तरह सम्भाल कर रखेंगे।" आँखों में आँसू भरकर वह काँपती आवाज़ में कहती। "मेरा भोला बेटा पूछता है कि पिता, माँ और रिश्तेदारों का क्या हाल है? हमें भला हो ही क्या सकता है? हम अपने घर में बैठे हैं, अपने गाँव में हैं, हमें क्या हो सकता है! मगर तुम बताओ, तुम कैसे हो बेटा? हमें तो सिर्फ़ इतना लिख भेजो कि तुम जिन्दा हो। बस सिर्फ़ इतना ही। हमें और कुछ नहीं चाहिए!"

मेरी माँ देर तक उस तिकोन को देखती रहती। फिर वह और ख़तों के साथ ही इस ख़त को भी एक छोटे-से बटुए में रखकर सन्दूक़ में बन्द कर देती।

जमीला अचानक ही उस वक़्त घर पर थी उसे वह ख़त पढ़ने की इजाज़त दे दी गयी। मैंने देखा कि उस तिकोन को हाथ में लेते हुए वह जैसे शर्म से गड़ी और झेंपी जा रही थी। वह ख़त को पढ़ने नहीं, जल्दी-जल्दी निगलने लगी। मगर जैसे-जैसे वह ख़त पढ़ती गयी उसके कन्धे झुकते गये और उसके गालों की चमक और सुर्ख़ी हवा होती गयी। उसके माथे पर बल पड़ गये। उसने पत्र की अन्तिम पंक्तियाँ बिना पढ़े ही छोड़ दीं। कुछ ऐसी उदासीनता, ऐसी लापरवाही से उसने वह ख़त मेरी माँ को लौटा दिया जैसे कि कोई उधार ली हुई चीज वापस दे रही हो।

मेरी माँ ने अपने ही ढंग से बहू के मन की बात समझी। उसने उसको दिलासा देने, उसका मन बहलाने की कोशिश की –

"क्या बात है?" सन्दूक़ बन्द करते हुए माँ ने कहा। "अरे ख़ुश होने के बजाय तुम तो एकदम उदास हो गयीं! अकेला तुम्हारा ही पति तो मोर्चे पर गया नहीं है! सिर्फ़ तुम्हीं तो दुख-मुसीबत के दिन काट नहीं रही हो! सारा देश ख़ून के आँसू रो रहा है। तुम्हें भी दूसरों की तरह अपना दुख-दर्द बर्दाश्त करना चाहिए। तुम क्या समझती हो कि तुम्हारी तरह अकेलापन महसूस करनेवाली और लड़कियाँ नहीं हैं? क्या उन्हें अपने घरवालों की याद नहीं आती? तुम चाहो तो कहीं एकान्त म जाकर कुछ क्षण बिता लो, मगर अपने दर्द को चेहरे पर न आने दो। अपनी भावनाओं को अपने मन तक ही सीमित रखो।"

जमीला ने कुछ भी जवाब न दिया। मगर उसके चेहरे पर उदासी और दृढ़ता का भाव उभर आया। वह मानों यह कहती-सी लगी – "ओह माँ! तुम कुछ भी तो नहीं समझती हो!"

सादिक़ का इस बार जो ख़त आया था उसपर 'सरातोव' की मुहर थी। वह वहाँ एक अस्पताल में था। सादिक़ ने लिखा था कि अगर ख़ुदा की मेहर हुई तो वह पतझर तक घर आ जायेगा। उसने पहले भी इसके बारे में लिखा था और हम बड़े चाव से उसके घर आने का इन्तज़ार कर रहे थे।

आख़िर उस दिन मैं घर पर न रहा और खलियान की तरफ़ चला आया। रात को मैं अक्सर वहीं सोता था। मैं अपने घोड़ों को अलफ़ालफ़ा के चरागाह में ले गया और उनके पाँव बाँध दिये। सामूहिक फ़ार्म के अध्यक्ष ने इस चरागाह में पशु चराने की मनाही कर रखी थी। मगर मैं उसके इस क़ानून की परवाह न करता था। कारण कि मैं अपने घोड़ों को अच्छी तरह खिलाना चाहता था। मैं इस घाटी में एक अलग-थलग कोने से वाक़िफ़ था। इसके अलावा रात के वक़्त किसी के वहाँ आने-जाने और देखने की सम्भावना भी न थी। इस बार जब मैं अपने घोड़ों को चरागाह में ले गया तो देखा कि किसी के चार घोड़े वहाँ पहले से ही मौजूद हैं। मुझे यह बहुत बुरा लगा। आख़िर मैं दो घोड़ों के ठेले का मालिक था। इसलिए मुझे बुरा मानने का हक़ हासिल था। बिना किसी हिचक-झिझक के

मैंने उन अजनबी घोड़ों को वहाँ से भगाने का फ़ैसला किया। इस तरह मैं अपने इलाक़े में घोड़े छोड़नेवाले बदमाश को पाठ पढ़ाना चाहता था। पर तभी मैंने उनमें से दनियार के दो घोड़े पहचाने। टीम-लीडर ने उसी दिन उसकी चर्चा की थी। अगली सुबह से हम दोनों को एक साथ ही काम करना था। इसलिए मैंने उसके घोड़े खदेड़ने का इरादा तर्क कर दिया और खलियान में लौट आया।

दनियार को मैंने वहाँ पाया। वह अपने ठेले के पहियों में तेल दे चुका था और अब उनकी स्पोकें कस रहा था।

"दनियार, घाटी में क्या वे तुम्हारे घोड़े हैं ?" मैंने पूछा। उसने धीरे-से अपना सिर घुमाया।

"दो मेरे हैं।"

"और बाकी दो ?"

"ये उसके हैं, क्या नाम है उसका – जमीला के। कौन है वह, तुम्हारी जेने है न ?"

"हाँ।"

"उन दो घोड़ों को टीम-लीडर खुद यहाँ छोड़ गया है और मुझे इनकी देख-भाल करने के लिए कह गया है..."

खुशक़िस्मती ही समझिये कि मैंने इन घोड़ों को खदेड़ा नहीं !

रात घिर आयी। संध्या समय पहाड़ की तरफ़ से आनेवाले ठण्डी हवा के झोंकों ने अपने पंख समेट लिए। खलियान में हर चीज निश्चल थी। दनियार मेरे पास ही भूसे के एक ढेर पर लेट गया। घड़ी-भर बाद वह उठा और

नदी की तरफ़ चल दिया। वह खड्ड के सिरे पर जाकर रुक गया, मेरी तरफ़ पीठ करके खड़ा रहा। वह पीछे की तरफ़ अपने हाथ बाँधे था और उसका सिर एक तरफ़ को झुका हुआ था। उसका लम्बा-चौड़ा गठा हुआ जिस्म हल्की-हल्की चाँदनी में साफ़-साफ़ दिखाई दे रहा था। वह तो ऐसे लग रहा था जैसे कि किसी बुत तराश ने आड़ा-तिरछा बुत तराश डाला हो। वहाँ खड़ा हुआ वह मानो पानी के तेज़ बहाव के मधुर संगीत में डूबा हुआ था। वह संगीत जो रात के वक़्त बहुत साफ़-साफ़ सुनाई देता है। शायद वह हवा में तैरती सरसराती ऐसी आवाज़ें सुन रहा था जो मुझे सुनाई न दे रही थीं। यक़ीनन वह आज की रात भी नदी तट पर ही गुज़ारेगा। मैंने मन ही मन सोचा और मुस्करा दिया।

दनियार हमारे गाँव में अभी हाल ही में आया था, नवागन्तुक था। हुआ यह कि एक दिन एक लड़का दौड़ता और चिल्लाता हुआ खेतों में आया। उसने चिल्लाकर सबको बताया कि एक ज़ख्मी फ़ौजी गाँव में आया है। वह है कौन और कहाँ का रहनेवाला है, लड़का यह न जानता था। खबर तो आग की तरह गाँव-भर में फैल गयी ! मोर्चे से जैसे ही कोई लौटता कि गाँव का हर आदमी उससे मिलने के लिए भाग खड़ा होता। लोग उससे हाथ मिलाते और उससे अपने-अपने रिश्तेदारों के बारे में पूछते, ताज़ी खबर-सार जानने की कोशिश करते। इस बार तो बहुत ही जोर का होहल्ला मचा। हर कोई यही सोच रहा था – "शायद

हमारा भाई लौटा है, शायद बहनोई?" कुट्टी काटनेवाले सभी लोग इस फ़ौजी को देखने के लिए गाँव की तरफ़ भागे।

हमने सुना कि दनियार वास्तव में हमारे ही गाँव का रहनेवाला है। लोगों ने बताया कि वह छुटपन में ही यतीम हो गया था। तीन बरस तक तो वह कभी एक और कभी दूसरे घर में रहा। आखिर वह चक़माक़ स्तेपी में क़ज़ाख़ों के पास जाकर रहने लगा। उसका ननिहाल क़ज़ाख़ों में ही था। हमारे गाँव में दनियार का कोई नज़दीकी रिश्तेदार न था और इसलिए बहुत जल्द ही लोग उसे भूल-भाल गये। लोगों ने उससे पूछा कि अपना जन्म-स्थान अपना गाँव छोड़ने के बाद उसका जीवन कैसे बीता। दनियार ने इस सवाल का जवाब देने में टालमटोल से काम लिया। मगर फिर भी यह तो साफ़ ज़ाहिर ही था कि उसने काफ़ी तकलीफ़ें-मुसीबतें झेली थीं। उसे ज़हर के वे घूंट भी पीने पड़े थे जोकि अक्सर यतीमों को पीने पड़ते हैं। वह ज़िन्दगी-भर इधर-उधर भटकता और ठोकरें खाता रहा था। लम्बे अरसे तक उसने चक़माक़ के खारी मिट्टी के मैदान में भेड़ें चरायीं, बड़ा हुआ तो रेगिस्तानों में नहरें खोदीं और फिर उसने राजकीय कपास-फ़ार्म और ताशक़न्द के नज़दीक आहनगरान की खानों में काम किया। यहीं से उसे मोर्चे पर भेज दिया गया।

उसका अपने जन्म-स्थान, अपने गाँव में लौट आना लोगों को अच्छा लगा। उन्होंने कहा – "ख़ैर कोई बात नहीं, बहुत-सी अजनबी जगहों में भटक-भटककर आख़िर तो अपने ही गाँव में लौट आया! इसका मतलब यह है कि उसकी

क़िस्मत में अपनी धरती का दाना-पानी लिखा है। वह अपनी ज़बान भी नहीं भूला है और मज़े से क़िर्ग़ीज़ी में बातचीत कर लेता है। कभी-कभी अगर क़ज़ाख़ी के दो-चार शब्द भी मिला देता है तो इसमें क्या हर्ज है।"

"तुलपार* को अगर दुनिया के दूसरे सिरे पर भी छोड़ दिया जाये तो भी वह अपने झुण्ड में लौट आयेगा। अपनी धरती, अपने लोगों को भला कौन भूल सकता है? तुमने अच्छा ही किया कि लौट आये। हम ख़ुश हैं और हमारे बुज़ुर्गों की रूहें भी। अल्लाह ने चाहा तो हम जल्द ही जर्मनों का सफ़ाया करके फिर से अमन-चैन की बंसी बजायेंगे। तब औरों की तरह तुम्हारा भी घर-बार होगा, तुम्हारे चूल्हे से भी धुआँ निकलता दिखाई देगा!" बूढ़े आक़साक़ालों ने कहा।

दनियार की वंशावली की जाँच-पड़ताल करके उन्होंने उसकी नज़दीकी रिश्तेदारी खोज निकाली। इस तरह एक नया रिश्तेदार – दनियार – हमारे गाँव में नमूदार हुआ।

क़द लम्बा, झुके कन्धे और लंगड़ाती चाल, यह था दनियार। टीम-लीडर उरुज़मत उसे अपने साथ लेकर खेतों में आया। दनियार कन्धे पर अपना ग्रेटकोट डाले हुए था और जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाता हुआ उरुज़मत के छोटे-से घोड़े का साथ देने की कोशिश कर रहा था। लम्बे-तड़म्बे दनियार

---

*तुलपार – एक पौराणिक घोड़ा।

के साथ-साथ, नाटे और बार-बार उछलते हुए टीम-लीडर उरजमत को देखकर हमें बरबस फुदकनेवाली दरियाई टिटिहरी की याद आ रही थी। लड़के इन्हें साथ-साथ देखकर खूब हँसे।

दनियार का ज़ख़्म अभी तक भरा न था। अभी वह अपनी टाँग को अच्छी तरह से हिला-डुला न सकता था। इसलिए वह अभी तक चारा काटने के काबिल न था। उसे हम लड़कों के साथ चारा काटने की मशीनों की देखभाल का काम सौंपा गया। सच बात तो यह है कि हम उसे पसन्द न करते थे। वह हर वक़्त गुम-सुम रहता और उसकी यह हर वक़्त की ख़ामोशी हमें नागवार गुज़रती। वह कभी भूले-भटके ही एक-आध शब्द मुँह से निकालता। और अगर कुछ कहता तो उसमें भी कुछ ताल-मेल न होता। हमें लगता कि वह सोच कुछ और रहा है और बोल रहा है कुछ और ही। वह हमें अपने ही ख़्यालों में उलझा-उलझाया नज़र आता। वह अपनी सोच में डूबी हुई स्वप्निल-स्वप्निल आँखों से अपने सामने खड़े आदमी को घूरता रहता पर फिर भी कोई यक़ीन से यह न कह पाता कि दनियार ने उसे देखा है या नहीं।

"बेचारा दनियार! मोर्चे से लौटने के बाद अपने को सम्भाल ही नहीं पा रहा है!" गाँव के लोग कहते।

बेशक वह हर वक़्त सपनों में खोया रहता, पर फिर भी बहुत फुर्ती और सफ़ाई से अपना काम करता। उसकी यह बात बहुत ही अजीब लगती। पहली नज़र में तो

देखनेवाले के मन पर यही छाप अंकित होती कि वह बड़ा साफ़गो और खुला हुआ आदमी है। शायद बचपन के बुरे दुख भरे दिनों ने उसे अन्दर ही अन्दर घुलना, गुम-सुम रहना, अपने भाव और अपनी भावनायें छिपाने का आदी बना दिया था। यह बहुत ही मुमकिन था।

दनियार के होंठ पतले-पतले थे, मुँह के कोनों पर गहरी रेखायें थीं और होंठ हर वक़्त भिंचे रहते थे। उसकी आँखों से दुख और उदासी झलकती, थके-हारे मुरझाये चेहरे पर ज़िन्दगी की झलक मिलती तो सिर्फ़ उसकी तेज़ी से हिलती-डुलती भौंहों के कारण। कभी-कभी वह अचानक ही चौकन्ना हो जाता। वह मानों हमें सुनाई न देनेवाली कोई अजीब आवाज़ सुनता। तब उसकी भौंहें तन जातीं और आँखों में एक अजीब आग-सी दहकने लगती। उसके चेहरे पर ख़ुशी की एक लहर-सी दौड़ जाती और वह काफ़ी देर तक क़ायम रहती। हमें यह सब कुछ बड़ा अजीब-अजीब-सा लगता। इतना ही नहीं, उसमें कुछ और भी अनोखी बातें थीं। शाम होती तो हम अपने घोड़े खोल देते और तम्बू के गिर्द जमा होकर खाना तैयार होने का इन्तज़ार करते। मगर दनियार उस वक़्त पास की ऊँची पहाड़ी पर चढ़ जाता और अँधेरा होने तक वहीं बना रहता।

"वह वहाँ कर क्या रहा है? पहरा दे रहा है? या कुछ और कर रहा है?" हम लोग हँसते।

एक दिन अपने मन की जिज्ञासा मिटाने के लिए मैं उसके पीछे-पीछे पहाड़ी पर जा पहुँचा। मुझे वहाँ कुछ

भी ख़ास बात नज़र न आयी। स्तेपी झुटपुटे में लिलक जैसी नज़र आ रही थी और पर्वतमाला के साथ-साथ दूर क्षितिज तक फैली हुई थी। अँधेरे और झुटपुटे धुंधलके में लिपटे हुए खेत सन्नाटे में धीरे-धीरे घुलते-मिलते जा रहे थे।

दनियार ने मेरी तरफ़ ज़रा भी ध्यान न दिया। वह घुटने टेककर बैठा था, विचारों में खोया डूबा। वह दूर, बहुत दूर नज़र गड़ाये था। जब-तब वह चौंकता और फिर बुत बन जाता। उसकी आँखें अपलक खुली की खुली रह जातीं। ज़रूर कोई न कोई बात इसे परेशान किये दे रही है, मैंने सोचा। मुझे महसूस हुआ कि वह अभी उठेगा और अपना दिल खोलकर रख देगा, मगर मेरे सामने नहीं। मेरी तरफ़ तो उसने आँख उठाकर भी न देखा था। वह अपना दिल खोलकर रखेगा, किसी ऐसे के सामने, जो महान् है, जिसका हृदय बहुत विशाल है और मेरे लिए अनजाना है। मैंने फिर जो उसपर नज़र डाली तो उसे पहचान भी न पाया। दनियार एक ओर को झुका हुआ और उदास-उदास-सा बैठा था। मैंने महसूस किया कि वह तो दिन-भर की थकान मिटाने के लिए यहाँ बैठकर बस आराम ही कर रहा है।

हमारे सामूहिक फ़ार्म के चारे के खेत कुरकुरेव नदी की बाढ़वाली ज़मीन के साथ-साथ फैले हुए हैं। यह नदी हमारे गाँव के नज़दीक एक पहाड़ी गुफ़ा से बाहर आती है और गरजती-दहाड़ती बहुत तेज़ी से घाटी में पहुँचती है।

चारा काटने-सुखाने के दिनों में ही पहाड़ी नदियों में बाढ़ें आती हैं। गंदला, झाग उड़ाता हुआ पानी संध्या समय बढ़ना शुरू हो जाता है। रात के वक़्त यह नदी बहुत ज़ोर-ज़ोर से खर्राटे लेती है। मैं इसके खर्राटों की आवाज़ से चौंककर जाग उठता। ख़ामोश रात और नीले आकाश की चादर में से झाँकते हुए सितारों पर मेरी नज़र टिक जाती। हवा के ठण्डे और तेज़ झोंके रुक-रुककर, झपटकर इधर से उधर जाते। धरती गहरी नींद में सोई होती। इस ख़ामोशी, इस गहरे सन्नाटे में मुझे ऐसा लगता कि जैसे नदी हड़बड़ाती, शोर मचाती, तेज़ी से हमारी तरफ़ बढ़ी आ रही है। हम नदी तट के बहुत नज़दीक न थे, फिर भी मैं नदी के पानी को अपने इर्द-गिर्द महसूस करने लगता। अनजाने ही डर का भूत मुझे अपनी बाहों में जकड़ लेता। मुझे अनुभव होता कि अभी तम्बू पानी की बाढ़ में बह जायेगा और यहाँ पानी ही पानी हो जायेगा। मेरे साथी चारा काटनेवालों की गहरी नींद के मज़े लेते रहते मगर मैं बेचैन होकर तम्बू से बाहर आ जाता।

कुरकुरेव की बाढ़ की ज़मीनों में रात के वक़्त बहुत डर भी लगता है और बहुत मज़ा भी आता है। चरागाह में जहाँ-तहाँ पिछाड़ी-बन्धे घोड़ों की काली-काली आकृतियाँ दिखाई देती हैं। ये घोड़े पेट-भर ओस भीगी घास खाने के बाद अब ज़ोरों से ऊँघ रहे हैं, धीरे-धीरे खर्राटे ले रहे हैं। इनसे आगे जाने पर कुरकुरेव नदी के पानी की अजीब-अजीब आवाज़ें सुनाई देती हैं। अपने किनारों से उफन-

उफनकर बाहर आती हुई बेंतों की झाड़ियों पर अपने चपत जमाती और उन्हें झुकाती हुई अपने पत्थरों को साथ बहाये नदी चली आती है और गहरी गम्भीर आवाज़ पैदा करती है। इस बेचैन नदी की उछल-कूद से खामोश रात में चारों तरफ़ भयानक और रोंगटे खड़ी करनेवाली आवाजें फैल जाती हैं।

ऐसी रातों में मुझे हमेशा ही दनियार की याद आती। वह अक्सर नदी के किनारे सूखे चारे के ढेर पर सोता था। क्या उसे डर नहीं लगता? नदी के शोर से क्या उसके कानों के पर्दे नहीं फटते? क्या वह सचमुच वहाँ सो सकता है? वह नदी के किनारे अकेला ही अपनी रातें क्यों बिताता है? कौनसा जादू-टोना उसे वहाँ खींच ले जाता है? मुझे लगता कि वह एक अजीब आदमी है। इस दुनिया का नहीं, दूसरी दुनिया का रहनेवाला है। वह अब कहाँ है? मैंने घूमकर देखा मगर वहाँ कोई भी नज़र न आया। बहुत दूरी पर ढालू पहाड़ियों की तरह नदी के किनारे आँखों से ओझल हो रहे थे और दूर-दूर तक फैली पहाड़ियों पर अँधेरे ने अपने पाँव फैला रखे थे। पहाड़ी चोटियों पर खामोशी छाई थी, गुपचुप सितारे उन्हें चूम रहे थे।

शायद आप सोचेंगे कि दनियार ने इस अरसे में गाँव में कुछ दोस्त बना लिये थे। मगर नहीं, वह आज भी पहले की ही तरह अकेला था। वह तो जैसे दोस्ती और दुश्मनी, हमदर्दी और जलन इन शब्दों के अर्थ ही न जानता था। गाँव में उसी जीगित को सभी अपना बनाने की कोशिश

करते हैं जो अपने लिए और अपने दोस्तों के लिए छाती ठोककर सामने आ खड़ा होता है, जो भलाई और कभी-कभी बुराई भी करता है, जो आक़साक़ालों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करता है और जो दावतों और महफ़िलों की जिम्मेदारी सम्भालता है। औरतें भी ऐसे ही बाँके पर जान देती हैं।

लेकिन अगर कोई दनियार जैसा हो, अपने में ही सिमटा-सिमटाया रहे, गाँव की हर दिन की जिन्दगी में ज़रा भी दिलचस्पी न ले तो गाँववाले भी या तो उसकी उपेक्षा करते हैं या फिर दया दिखाते हुए यह कहने लगते हैं— "वह तो न किसी के भले में है, न बुरे में। बेचारा जैसे-तैसे अपनी गाड़ी चलाये जा रहा है, सो चलाते रहने दो..."

ऐसे लोग अक्सर ही या तो हँसी-मज़ाक़ के पात्र बनते हैं या दया-सहानुभूति के। हम छोकरे अपने को अपनी उम्र से बड़ा ज़ाहिर करने की कोशिश करते। हम सही जीगितों की बराबरी का दम भरते। पीठ पीछे हम सभी दनियार की खिल्ली उड़ाते, पर उसके सामने हमें ऐसा करने की हिम्मत न होती। वह अपनी फ़ौजी क़मीज़ खुद नदी पर जाकर धोता है, हम तो इस बात का भी मज़ाक़ उड़ाते। वह अपनी क़मीज़ धोता और अभी कुछ-कुछ नम ही होती कि पहन लेता। उसके पास दूसरी क़मीज़ जो न थी।

अजीब बात थी कि दनियार वैसे तो नर्म तबीयत का दिखाई देता और चुप-चुप भी रहता पर हमें उससे घुलने-

मिलने की हिम्मत न होती। हमारी इस झेंप का कारण उसका उम्र में बड़ा होना न था। आख़िर तीन-चार साल का फ़र्क़ माने ही क्या रखता है? हम बड़ी आसानी से उसके साथ दोस्त का सा बर्ताव कर सकते थे। उसे दोस्तों की तरह सम्बोधित भी कर सकते थे। वह कठोर न था और घमंडी भी न था। अगर ऐसा होता तो शायद हमारे दिल में उसके लिए इज़्ज़त या कुछ डर का सा भाव पैदा हो जाता और हम उसके नज़दीक होने की हिम्मत न कर पाते। पर ऐसा कुछ भी तो नहीं था। उसकी अनजानी चुप्पी, उसका उदास-उदास और विचारों में डूबे रहना, इसी में कुछ ऐसा था कि हम उससे दूर-दूर रहते, उसके निकट आने का साहस न कर पाते। वैसे हम छोकरे तो हमेशा ही किसी न किसी का मज़ाक़ उड़ाने की ताक में रहते।

दनियार के प्रति हमारे सधे-बंधे व्यवहार के लिए एक विशेष घटना ज़िम्मेदार थी। मैं एक अजीब-सा लड़का था। अक्सर लगातार सवाल कर-करके लोगों के नाक में दम कर देता था। सेना से लौटे हुए फ़ौजियों से लड़ाई के बारे में जानकारी हासिल करने का तो मुझे जनून था। दनियार जब हमारे साथ काम करने लगा तो मैं इस भूतपूर्व सैनिक से कुछ जानने-पूछने की ताड़ में रहने लगा।

एक शाम हम कैम्प-फ़ायर के गिर्द बैठे थे। शाम का खाना खाने के बाद हम लोग वहाँ बैठकर आराम कर रहे थे।

"दनियार, सोने से पहले हमें लड़ाई के बारे में तो कुछ बताओ," मैंने कहा।

पहले तो वह चुप रहा और कुछ नाराज़-सा भी दिखाई दिया। वह देर तक टकटकी बाँधकर आग को देखता रहा और फिर उसने सिर उठाकर हमारी तरफ़ देखा।

"लड़ाई के बारे में?" उसने पूछा। और फिर जैसे कि अपने ही मन के सवालों का जवाब देते हुए धीरे से बोला—"लड़ाई के बारे में कुछ भी न जानना ही बेहतर है!"

वह घूमा, उसने मुट्ठी-भर सूखे पत्ते समेटे, उन्हें आग में फेंका और हमारी ओर देखे बिना ही फूंक मार-मारकर उन्हें सुलगाने लगा।

दनियार ने एक भी शब्द और न कहा। उसके गिने-गिनाये वे कुछ शब्द ही हमारे लिए काफ़ी साबित हुए। हमने यह महसूस किया कि लड़ाई कोई हँसी-मज़ाक़, आराम से बिस्तर में लेटकर सुनने लायक़ कोई दिलचस्प दास्तान नहीं है। लड़ाई उसके दिल में ख़ून का गहरा धब्बा, ख़ूनी दाग़ बनकर रह गयी थी। उसके लिए इसकी चर्चा करना आसान न था। मुझे ख़ुद अपने पर शर्म आयी। फिर तो कभी भूलकर भी मैंने उससे लड़ाई की चर्चा करने की हिमाकत न की।

सिर्फ़ इसी एक कारण से हम उसकी इज़्ज़त करते हों, सो बात भी नहीं है। हम बहुत जल्द ही उस शाम के बारे में भूल गये। ठीक उसी तरह और उतनी जल्दी ही जितनी जल्दी कि गाँव के लोग ख़ुद दनियार को ही भूल गये थे। गाँववालों को उसमें बिल्कुल दिलचस्पी न रही थी। उसके अलग-अलग और चुप-चुप रहने से गाँववाले

या तो उसकी उपेक्षा करने लगे थे या फिर दया दिखाने लगे थे।

"बेचारा बदक़िस्मत, बेघर लड़का है। सामूहिक फ़ार्म में भर पेट खाने को मिल जाता है, इतना ही क्या कम है। मेमने की तरह सीधा-सादा है और चुप-चुप रहता है!" गाँव के लोग कहते।

गाँववाले जल्द ही उसकी अजीब अनोखी आदतों के आदी हो गये। उन्हें अब उसमें बिल्कुल दिलचस्पी न रही। ऐसा होना तो कुदरती ही था। जो लोग अपना सिक्का मनवाना नहीं जानते, लोग उन्हें जल्द ही भूल जाते हैं।

अगली सुबह, मैं और दनियार बहुत तड़के ही घोड़े लेकर खलियान में आ पहुँचे। जमीला भी जल्द ही आ गयी। हम दोनों को वहाँ देखकर वह दूर से ही चिल्लाई – "ए किचिने-बाला, मेरे घोड़े यहाँ ले आओ! साज़ कहाँ हैं?" इतना कहकर वह ध्यान से ठेले का मुआइना करने लगी। वह तो कुछ ऐसे लग रही थी कि मानो जिन्दगी-भर ठेले ही हाँकती रही हो। धुरे की जाँच-पड़ताल करने के लिए वह पहियों को ठोक-पीट रही थी।

हम जब उसके पास आये तो उसे हमारी सूरत बहुत ही दिलचस्प लगी। दनियार तिरपाल के बेहद चौड़े-चौड़े बूट पहने था। उसकी लम्बी-पतली टाँगें इन बूटों में ठप-ठप कर रही थीं। ऐसा लगता था कि वे बूट किसी भी घड़ी उसके पाँव से निकलकर अलग जा गिरेंगे। इधर मैं नंगे

पाँव चलकर सख़्त हुई अपनी एड़ियां घोड़े की बग़ल में दबाये जा रहा था।

"क्या बढ़िया हंसों की जोड़ी है!" अपना सिर इधर-उधर झटकते हुए जमीला ने कहा। अगले ही क्षण वह हम दोनों पर हुक्म चलाने लगी – "जल्दी करो! गर्मी होने से पहले-पहले ही हमें स्तेपी पार करनी है!"

जमीला ने मज़बूती से लगामें पकड़ीं, घोड़ों को ठेले के पास ले गयी और जोतने लगी। यह सब कुछ उसने ख़ुद ही किया। सिर्फ़ एक बार उसने मुझे लगामें ठीक करने का तरीक़ा बताने को कहा। दनियार की तरफ़ तो उसने ध्यान ही न दिया। वह तो जैसे वहाँ था ही नहीं।

जमीला की दृढ़ता, रोब जमाने का ढंग और आत्म-विश्वास देखकर दनियार तो भौचक्का-सा रह गया। वह वहाँ खड़ा-खड़ा ज़ोर से अपने होंठ काट रहा था। उसकी नज़र में खीझ और साथ ही दबी-छिपी प्रशंसा झलक रही थी। दनियार ने काँटे से अनाज की एक बोरी उठाई और चुपचाप उसे ठेले तक ले गया। जमीला ने यह देखा तो बिगड़ी –

"तुम क्या समझते हो कि हम इसी तरह अलग-अलग काम करेंगे? नहीं, मेरे दोस्त, यह सब नहीं चलेगा। लाओ, अपना हाथ मुझे दो! तुम क्या खड़े-खड़े मुंह ताक रहे हो, किचिने-बाला? ठेले पर चढ़ बोरियाँ ठीक-ठाक करो!"

जमीला ने दनियार का हाथ थाम लिया। जब उन्होंने झुकी हुई बांहों पर एक बोरी उठाई तो बेचारे दनियार का

तो झेंप के मारे बहुत ही बुरा हाल हुआ। और इस तरह वे बार-बार कसकर बांहें पकड़ते और बोरियाँ उठाते रहे। बोरियाँ उठाते समय उनके सिर भी एक दूसरे से लगभग छू जाते। मैंने दनियार का तो हर बार ही बुरा हाल होते देखा। वह घबराया-घबराया-सा अपने होंठ काटता और जमीला की आँखों से आँखें बचाने की कोशिश करता। मगर जमीला को तो कुछ भी परेशानी न हो रही थी। उसे तो जैसे अपने सहायक की उपस्थिति का ज्ञान तक न था। वह तो काँटे पर काम करनेवाली औरत से हँसी-ठिठोली करती रही। आखिर ठेले भर गये और हमने लगामें सम्भालीं। तब जमीला ने शरारत करते हुए मुझे आँख मारी और हँसकर कहा—

"ए, क्या नाम है तुम्हारा! दनियार? क्योंकि तुम मर्द जैसे लगते हो इसलिए तुम्हीं अपना ठेला आगे-आगे ले चलो!"

दनियार ने लगामें खींचीं और चल दिया। "हाय, बेचारा दनियार," मैंने सोचा, "आगे ही क्या कमी थी—और इसपर शर्मीले भी हो! करेला और सो भी नीम चढ़ा।"

हमारा सफ़र काफ़ी लम्बा था। हमें बीस किलोमीटर तो स्तेपी में से जाना था और फिर दर्रे में से गुज़रकर स्टेशन तक पहुंचना था। अच्छी बात थी तो सिर्फ़ यही कि सड़क शुरू से आखिर तक ढालू थी। इसलिए घोड़ों को ज्यादा ज़ोर लगाने और थकने की ज़रूरत न थी।

हमारा गाँव कुरकुरेव नदी के तट के साथ, आला-ताव पर्वतमाला की ढाल पर स्थित था। पेड़ों की काली-काली चोटियोंवाला हमारा यह गाँव दर्रे तक दिखाई देता था।

हम दिन में सिर्फ़ एक ही चक्कर लगाते। हम सुबह-सुबह ही गाँव से चलते और बाद दोपहर स्टेशन पर पहुँच जाते।

आज जब हम चले तो सूरज जी भरकर आग बरसा रहा था। फिर स्टेशन के क़रीब ऐसा भीड़-भड़क्का था कि रास्ता ढूंढ़ना मुश्किल था। दर्रे के हर कोने से बोरियों से ठसाठस भरे ठेले और गाड़ियाँ वहाँ आती थीं। पहाड़ी सामूहिक फ़ार्मों से खच्चरों और बैलों पर लादकर अनाज की बोरियाँ लायी जाती थीं। इन ठेलों, गाड़ियों और लद्दू जानवरों को हाँकते थे लड़के और फ़ौजियों की बीवियाँ। इनके चेहरे धूप में झुलसकर साँवले पड़ गये थे। ये बदरंग कपड़े पहने हुए थे और पथरीली सड़कों के पत्थरों पर चल-चलकर इनके नंगे पाँव बुरी तरह फटे हुए थे। इनके होंठ भी फटे हुए थे और गर्मी और धूप के कारण इनसे लहू बह रहा था।

एलीवेटर पर एक बड़ा-सा नारा लिखा हुआ था—'अनाज का हर दाना मोर्चे के लिए!' अहाते में गाड़ीवानों की भारी रेल-पेल थी। इस तरह कन्धे से कन्धा छिल रहा था और गाड़ीवान इस तरह चीख-चिल्ला रहे थे कि बयान करना मुश्किल है। पास ही में एक छोटी-सी दीवार के

पीछे इंजन इधर-उधर चक्कर काटकर डिब्बे जोड़ रहा था। वह घुटी-घुटी गर्म भाप छोड़ता हुआ जले लाव की गन्ध फैला रहा था। रेलगाड़ियाँ धड़धड़ाती और गड़गड़ाती हुई गुज़र रही थीं। ऊँट उठकर खड़े होने का नाम न ले रहे थे और ज़ोर-ज़ोर से शोर मचा रहे थे। वे गुस्से से अपने लार-भरे मुँह खोल रहे थे।

स्टेशन पर आग की तरह जलती हुई लोहे की छत के नीचे अनाज के टीले बने हुए थे। ढालू तख़्तों पर चढ़ते हुए ठीक छत तक बोरियाँ लेकर जाना पड़ता था। वहाँ अनाज की गन्ध से हवा भारी थी और गर्द से दम घुटता था।

"ए, हज़रत! ज़रा ध्यान से!" अनाज सम्भालनेवाला कर्मचारी नीचे से चिल्लाया। उनींदा रहने के कारण उसकी आँखें लाल-लाल और चढ़ी हुई थीं। "इन बोरियों को ऊपर ले जाओ, ठीक सिरे तक!" उसने मुक्का दिखाया और गाली दी।

वह गाली क्यों दे रहा है? हमें मालूम है कि इन बोरियों को कहाँ ले जाना है और हम उन्हें वहाँ पहुँचा देंगे। आख़िर हम ही तो इन बोरियों को खेतों से यहाँ तक लाते हैं। उन खेतों से जहाँ औरतों, बूढ़ों और बच्चों ने गेहूँ बोया और काटा; जहाँ आजकल ज़ोरों से फ़सलें काटी जा रही हैं और जहाँ कम्बाइन-ऑपरेटर पुरानी मशीन से ही जैसे-तैसे काम चला रहा है। वैसे वह मशीन कभी की बेकार हो चुकी है। हम उन्हीं खेतों से तो ये बोरियाँ लाये हैं जहाँ औरतें जलती दराँतियों पर झुकी रहती हैं और

जहाँ बच्चे बड़ी सावधानी से अनाज का एक-एक दाना इकट्ठा करते हैं।

वे बोरियाँ कितनी भारी थीं, यह तो मुझे आज तक भी याद है। उन्हें उठाना तो किसी हट्टे-कट्टे आदमी का काम था। मैं बोझ से दबते, लचकते तख़्तों पर क़दम रखता हुआ आगे बढ़ता गया। बोरी का एक सिरा मैंने ज़ोर से दाँतों तले दबाया हुआ था कि बोरी कहीं गिर न जाये, कि मुझे बोरी उठाने में मदद मिले। गर्द-गुबार से मुझे गले में जलन महसूस हुई, भार से हड्डियाँ कराह उठीं और आँखों के सामने चिनगारियाँ-सी नाच उठीं। बार-बार मुझे चक्कर आये, बार-बार मुझे यह लगा कि बोरी गिरी कि गिरी। मेरे अपने मन में भी कई बार यह ख़्याल आया कि जब इसे गिरना ही है तो मैं ही क्यों न गिरा दूं और ख़ुद भी इसके साथ लुढ़क-पुढ़क जाऊँ। मगर मेरे पीछे और भी बहुत-से लोग थे। वे भी बोरियाँ उठाये थे। इनमें या तो कम उम्र के छोकरे थे या फ़ौजियों की वे बीवियाँ जिनके मेरे जैसे बेटे थे। अगर कमबख़्त लड़ाई के दिन न होते तो भला कौन इन्हें इतनी भारी बोरियाँ उठाने देता? जब औरतें भी मेरे जैसा काम कर रही हैं तो भला मुझे लौटने का क्या हक़ है? मुझे कोई हक़ नहीं है।

जमीला मेरे आगे-आगे थी। वह अपना स्कर्ट घुटनों तक चढ़ाये थी। उसकी साँवली-ख़ूबसूरत टाँगों की पेशियाँ पूरा ज़ोर लगाती हुई मुझे साफ़ दिखाई दे रही थीं। वह बोरी के बोझ तले दबी जा रही थी। अपने छोटे नाज़ुक

जिस्म को सम्भाले रखने के लिए उसे बड़ी कोशिश करनी पड़ रही थी। वह कभी-कभी घड़ी-भर के लिए रुक जाती। वह यह भाँप रही थी कि हर एक क़दम के बाद मेरे पाँव ज्यादा से ज्यादा लड़खड़ाते जाते हैं।

"हिम्मत से काम लो, किचिने-बाला। समझो कि अब तो हम पहुँच ही गये!"

मगर मुझे ख़ुद उसकी आवाज़ भी फटी-फटी और निर्जीव सी लगी।

हर बार ही जब हम अपनी बोरियाँ ख़ाली करके मुड़ते तो हमें दनियार ऊपर आता दिखाई देता। वह तख़्तों पर मजबूत और नपे-तुले क़दम रखता हुआ आगे बढ़ता और कुछ-कुछ लंगड़ाता। हम हर बार ही उससे पहले ऊपर पहुँचते और हर बार ही दनियार, जमीला को जलन भरी भारी नज़र से देखता। जमीला अपनी थकी हुई पीठ सीधी करती अपनी पोशाक की सिलवटें निकालती। वह हर बार ही उसे ऐसे देखता मानो पहली बार देख रहा हो। पर जमीला उसकी उपेक्षा करती रही।

जमीला या तो दनियार पर हँस देती या फिर उसे बिल्कुल ही भूल जाती। यह तो हर दिन की सधी-बंधी बात हो गयी थी और उसका मूड ही इसका फ़ैसला करता था। हमारे ठेले सड़क पर होते कि जमीला सहसा ही आवाज़ देती–"चलो, चलें!" वह ज़ोर से हुँकारती, अपने सिर पर चाबुक सटकारती और घोड़ों को सरपट दौड़ाना शुरू कर देती। मैं भी ऐसा ही करता। हम धूल का बादल

उड़ाते हुए दनियार से आगे निकल जाते। यह धूल काफ़ी देर बाद ही नीचे बैठती। बेशक यह मज़ाक़ में ही किया जाता, मगर फिर भी बहुत कम मर्द ही शायद इसे बरदाश्त करते। पर दनियार को तो इससे जैसे कुछ भी फ़र्क़ नहीं पड़ता था। हम धड़धड़ाते हुए उसके पास से गुज़र जाते और वह ठेले में सीधा खड़ा हुआ हँसती-खिलखिलाती जमीला को बुत-बना प्रशंसा की दृष्टि से निहारता रहता। जैसे ही मैं घूमता तो धूल को चीरती हुई उसकी एकटक नज़र जमीला पर जमी पाता। उसकी मेहरबान नज़र तो मानो यह कहती लगती तुम्हें सौ ख़ून माफ़ हैं। फिर भी मुझे उसकी इस उदारता में हठीली और छिपी हुई उदासी की झलक मिलती।

जमीला उसका मज़ाक़ उड़ाती है, उड़ाती रहे। जमीला उसकी उपेक्षा करती, दनियार की बला से! वह न कभी ग़ुस्से में आता, न बुरा मानता। उसने तो जैसे यह सब कुछ बरदाश्त करने की क़सम खा रखी थी। शुरू-शुरू में तो मुझे दनियार पर रहम आता। मैं अक्सर जमीला को बुरा-भला कहता–"जेने, तुम उस भले आदमी का मज़ाक़ क्यों उड़ाती रहती हो? वह बेचारा तो बिल्कुल गऊ है, हमेशा चुप-चुप रहता है!"

"ओह!" वह हँसती और कन्धे झटक देती। "वह तो सब मज़ाक़ होता है। कुछ बिगड़ थोड़े ही जायेगा उस मिट्टी के माधो का!"

मगर जल्द ही मैं ख़ुद भी यही कुछ करने लगा।

मुझे भी दनियार से छेड़-छाड़ करने में मज़ा आने लगा। उसकी अजीब-अजीब और हठीली नज़रें मुझे परेशान करती रहतीं। जमीला अपनी पीठ पर अनाज की बोरी उठाती तो वह उसे घूरता रहता। किस बुरी तरह वह उसे घूरता था! वैसे अनाज जमा करने के इस स्थान पर तो भारी रेल-पेल रहती थी, इधर-उधर दौड़ भाग करते और चीखते-चिल्लाते लोगों के गले बैठ जाते थे। ऐसी हड़बड़ी में जमीला की तरह पूरे विश्वास से नपे-तुले और हल्के-हल्के क़दम रखनेवाली जवान लड़की की तरफ़ नज़र का घूम जाना बहुत कुदरती था। वह तो जैसे अनाज के अहाते में नहीं, किसी दूसरी ही जगह खड़ी- दिखाई देती।

रुककर जमीला को देखे बिना आगे निकल जाये, किसी के लिए भी ऐसा करना मुश्किल था। ठेले के सिरे से बोरी उठाने के लिए जमीला सीधी तनकर घूम जाती। वह अपने कन्धे आगे की तरफ़ झुकाती और सिर इस तरह पीछे की तरफ़ झटकती कि उसकी सुन्दर गर्दन नंगी हो जाती और धूप में लाल दिखाई देनेवाली उसकी चोटियाँ लगभग जमीन छूने लगतीं। दनियार जाहिर तो यह करता कि जैसे वह आराम करने के लिए रुका है, मगर उसकी आँखें दरवाजे तक जमीला पर गड़ी रहतीं। यक़ीनन वह तो यही समझता कि उसे कोई भी नहीं देख रहा है, मगर मैं तो हर चीज़ ताड़ता। मुझे उसका ऐसा करना बहुत बुरा भी लगता। इतना ही नहीं, मैं तो इसे अपनी बेइज्जती भी समझता।

मैं सोचता कि दनियार, और जमीला पर नज़र रखे – मियाँ, शीशे में ज़रा अपनी सूरत तो देखो।

"अरे यह भी उसे घूरता है – तो दूसरों को भला कोई क्या कह सकता है!" मैं यह सोचता तो मारे गुस्से के बौखला उठता। मेरा बचकाना अहम, भयानक ईर्ष्या का रूप ले लेता। बच्चे कभी यह पसन्द नहीं करते कि उनका प्रेम-पात्र किसी दूसरे, बाहरी आदमी की तरफ़ ध्यान दे। अब मुझे दनियार पर रहम न आता था। मैं उससे नफ़रत करने लगा था। कोई भी अब अगर उसका मज़ाक़ उड़ाता तो मुझे ख़ुशी होती।

पर ख़ैर हमारी बदक़िस्मती ही कहिये कि हँसी-मजाक़ का यह सिलसिला एक दिन अचानक ही ख़त्म हो गया। हमारे पास १८० पौंड वज़न की, बहुत बड़ी, मोटे-कच्चे ऊन की बनी एक बोरी भी थी। इसे अकेले ही उठाना बहुत मुश्किल था। इसलिए हम मिलकर ही उसे उठाते थे। एक दिन हम दोनों ने खलियान में ही दनियार से चाल चलने की योजना बनायी। हमने यह भारी-भरकम बोरी उसके ठेले में फेंककर उसके ऊपर दूसरी बोरियाँ चुन दीं। जमीला और मैं, हम दोनों रास्ते में एक गाँव में ठहर गये और किसी बगीचे से हमने कुछ सेब उड़ाये। हम रास्ते-भर चुहल करते रहे और जमीला दनियार पर सेब फेंकती रही। फिर सदा की भाँति गर्द का बादल उड़ाते हुए हम उससे आगे निकल गये। दर्रा लांघने के बाद रेलवे-फाटक पर दनियार भी हम से आ मिला। वह भी इसलिए कि फाटक बन्द था।

वहाँ से हम एक साथ ही स्टेशन पर पहुँचे। इस लम्बी-चौड़ी बोरी का तो हमें ध्यान ही न रहा। बोरियाँ उतारकर ठेले खाली करने के बाद ही हमें उसका ख़्याल आया। जमीला ने मुझे आँख मारी और दनियार की तरफ़ इशारा किया। वह ठेले में खड़ा हुआ कुछ परेशान-सा उस बोरी की तरफ़ देख रहा था। ज़ाहिर है कि वह यह सोच रहा था कि उस बोरी का क्या करे। तभी उसने इधर-उधर नज़र दौड़ाई। जैसे ही उसने जमीला को अपनी मुस्कान दबाते देखा कि झेंप गया। अब मामला भी उसकी समझ में आ गया था।

"अपनी पतलून ऊपर चढ़ा लो वरना रास्ते में ही साफ़ हो जायेगी!" जमीला चिल्लायी।

दनियार ने गुस्से से हमें घूरा और पलक झपकते में ही वह उस बोरी को घसीटकर ठेले के सिरे तक ले आया। वह नीचे कूदा, उसने एक हाथ से बोरी को सम्भाला और धीरे से पीठ पर ले लिया। अब वह चल दिया। शुरू में तो हमने अपने दिल को यह समझने की कोशिश की कि वह कोई ख़ास और मुश्किल काम नहीं कर रहा है। दूसरों ने तो ख़ैर इसकी कुछ भी परवाह न की। परवाह करने की बात ही क्या थी! एक आदमी बोरी उठाये जा रहा था। पर सभी तो वहाँ यही कुछ कर रहे थे। दनियार जब ऊपर चढ़ने के संकरे रास्ते के क़रीब पहुँचा तो जमीला उसके पास गयी—

"बोरी नीचे फेंक दो, मैं तो योंही मज़ाक़ कर रही थी!"

"जाओ यहाँ से!" वह बड़बड़ाया और तख़्तों पर चढ़ चला।

"देखो, वह उठाये लिये जा रहा है!" जमीला जैसे कि अपनी सफ़ाई देती हुई चिल्लायी। यह अभी भी हल्की हँस रही थी, मगर अब बहुत दबे-दबे ढंग से। वह तो जैसे अपने साथ ज़बर्दस्ती कर रही थी, अपने को हँसने के लिए मजबूर कर रही थी।

हमने देखा कि दनियार अब पहले से कहीं ज़्यादा साफ़ तौर पर लंगड़ाने लगा है। हमें पहले ही इस बात का ख़्याल क्यों न आया? अपनी इस बेवक़ूफ़ी, इस हिमाक़त के लिए, मैं आज भी अपने को माफ़ करने को तैयार नहीं हूँ। मुझे, मुझ सिरफिरे को ही यह शरारत सूझी थी!

"लौट आओ!" जमीला चिल्लायी। उसकी अजीब-सी हँसी एक खोखली-फटी आवाज़ में बदल कर रह गयी।

मगर दनियार अब लौट न सकता था। उसके बिलकुल पीछे ही तो दूसरे लोग थे।

इसके बाद क्या हुआ, लगता है कि मेरी याददाश्त मुझे जवाब दे रही है। मैंने दनियार को इस भारी-भरकम बोझ के कारण दोहरा होते देखा। उसका सिर झुका हुआ था और वह दाँतों से होंठ काट रहा था। अपनी ज़ख़्मी टाँग बहुत ही धीरे-धीरे हिलाता हुआ वह चींटी की चाल से आगे बढ़ रहा था। हर नये क़दम के साथ उसे साफ़ तौर पर

बड़े ज़ोर का दर्द होता। वह अपने सिर को पीछे की तरफ़ झटकता और क्षण-भर के लिए रुक जाता। जैसे-जैसे वह ऊपर जा रहा था, अधिक-अधिक लड़खड़ा रहा था। बोरी उसे दोहरा किये दे रही थी। डर और शर्म से मेरा मुँह सूख गया। मुझे तो डर ने बुरी तरह जकड़ लिया था। मेरे जिस्म का रोयाँ-रोयाँ उसकी पीठ का भार महसूस कर रहा था। मेरे शरीर का अणु-अणु उसकी टाँग की असहनीय पीड़ा से कराह रहा था। वह फिर लड़खड़ाया, फिर उसने अपना सिर पीछे की तरफ़ झटका और मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। मुझे हर चीज घूमती-सी लगी। मेरे हाथों के तोते उड़ गये, मेरे पाँव तले की धरती खिसक गयी।

किसी के इस्पाती पंजे ने कसकर मेरा हाथ पकड़ा और मैं चौंककर होश में आया। मैं फ़ौरन ही जमीला को पहचान न पाया। उसके चेहरे का रंग बर्फ़ की तरह सफ़ेद था। उसकी आँखों की पुतलियाँ फैली हुई थीं। कुछ ही देर पहले की हँसी के कारण उसके होंठ अभी तक मुड़े हुए थे। इसी बीच माल सम्भालनेवाले कर्मचारी समेत हर आदमी तख़्तों के संकरे मार्ग के पास आ पहुँचा था। दनियार ने दो क़दम और बढ़ाये। उसने बोरी को ठीक से सम्भालने की कोशिश की। तभी अचानक ही उसका एक घुटना जवाब देने और नीचे को धसकने लगा। जमीला ने अपना मुँह ढाँप लिया।

"फेंक दो! फेंक दो बोरी!" वह चीख उठी।

मगर दनियार बोरी फेंकने को तैयार न था। वह चाहता तो उसे एक तरफ़ को गिरा सकता था। इस तरह पीछे आनेवाले भी गिरने से बच सकते थे। मगर नहीं। जमीला की आवाज सुनकर वह आगे की तरफ़ बढ़ा, उसने अपनी टाँग सीधी की, एक और क़दम बढ़ाया और फिर लड़खड़ाने लगा।

"फेंक दो इसे, अरे ओ कुत्ते के पिल्ले!" अनाज सम्भालनेवाला कर्मचारी चिल्लाया।

"फेंक दो!" हर आदमी चिल्ला उठा।

दनियार फिर से सम्भल गया।

"नहीं, वह नहीं फेंकेगा!" कोई बड़े विश्वास के साथ फुसफुसाया।

दनियार के पीछे-पीछे आनेवाले और नीचे खड़े सभी लोग यह समझ गये कि वह किसी हालत में भी बोरी नीचे नहीं फेंकेगा। बोरी के साथ ही साथ वह खुद भी नीचे लुढ़क जाये, यह बात दूसरी है। चारों तरफ़ एकदम खामोशी छा गयी। दीवार के पीछे इंजन की कानों के पर्दे फाड़ती हुई सीटी गूँजी।

दनियार धीरे-धीरे बढ़ता गया। वह इस तरह डोल रहा था मानो किसी जादू-टोने में बँधा हुआ हो। वह आग की तरह जलते लोहे की छत की तरफ़, हिलते-डुलते तख़्तों के सँकरे मार्ग पर चढ़ता चला गया। अपना सन्तुलन क़ायम रखने के लिए वह हर दो क़दम के बाद ठहर जाता। फिर से अपनी शक्ति समेटता और ऊपर चल देता। उसके

पीछे चलनेवाले भी ऐसा ही कर रहे थे। वह ठहरता तो वे भी ठहर जाते। इससे उन्हें भी थकान हो रही थी, उनकी ताक़त जवाब दे रही थी, मगर कोई भी नाराज़ न हो रहा था, कोई भी कोस न रहा था, गालियाँ न बक रहा था। पीठ पर अपने बोझ लादे वे भी धीरे-धीरे जैसे कि रेंग रहे थे। कोई अदृश्य सूत्र मानो उन्हें एक साथ बाँधे हुए था। वे तो जैसे कि किसी ख़तरनाक, फिसलने तंग रास्ते पर बढ़ रहे थे और यह कि उनकी ज़िन्दगी एक दूसरे पर निर्भर थी। उनकी चुप्पी और नीरस लड़खड़ाहट में एक ही लय-ताल थी, बहुत भारी, बहुत बोझिल-सी। एक क़दम बढ़ता, दनियार के पीछे दूसरा क़दम उठता और फिर तीसरा क़दम।

अब तो बस दो-चार डग ही बाक़ी रह गये थे। मगर दनियार एक बार फिर लड़खड़ाया। उसकी ज़ख्मी टाँग अब और ज़्यादा उसके इशारे मानने को तैयार न थी। अभी भी अगर उसने बोरी न गिरायी तो वह ज़रूर ही गिर पड़ेगा।

"भाग कर जाओ! उसे पीछे से सहारा दो!"

मैं तख़्तों के संकरे मार्ग पर तेज़ी से बढ़ चला। लोगों और बोरियों को कोहनियों से दायें-बायें हटाता हुआ मैं आख़िर दनियार के पास पहुँच गया। दनियार ने बाँह के नीचे से मुझे देखा। उसके साँवले, पसीने से तर-ब-तर माथे की नसें फड़फड़ा रही थीं। उसकी अंगारों जैसी लाल-लाल आँखों में क्रोध की आग दहक रही थी और मुझे भस्म किये दे रही थी। मैंने बोरी को पीछे से सहारा देना चाहा।

"जाओ यहाँ से!" दनियार ने मुझे फटकारा और आगे बढ़ गया।

आख़िर वह हाँफता और लंगड़ाता हुआ नीचे आया। उसकी बाँहें, दायें-बायें झूल रही थीं। लोगों ने उसे गुज़र जाने के लिए रास्ता दे दिया। मगर अनाज सम्भालनेवाला कर्मचारी अपने को क़ाबू में न रख पाया और बरस पड़ा—"तुम्हारा क्या सिर फिर गया है? मुझे क्या तुम इन्सान नहीं समझते हो? क्या मैं तुम्हें नीचे ही इसे ख़ाली करने की इजाज़त न देता? तुम भला ऐसी भारी बोरियाँ क्यों उठाते हो?"

"मेरी मर्ज़ी," दनियार ने धीरे से जवाब दिया।

दनियार ने एक तरफ़ को थूका और ठेले की तरफ़ चला गया। हमें तो आँखें ऊँची करने की जुर्रत न हो रही थी। हम तो शर्म से पानी-पानी हुए जा रहे थे। हमें दनियार पर ग़ुस्सा भी आ रहा था कि उसने हमारे बेवक़ूफ़ी भरे मज़ाक़ को इतना संजीदा क्यों बना दिया था।

हम रास्ते-भर चुप्पी साधे रहे। दनियार तो चूंकि अक्सर इसी तरह गुम-सुम रहता था इसलिए हम किसी तरह भी यह न जान सकते थे कि वह यह सारी घटना भूल चुका है या अभी तक अन्दर ही अन्दर ग़ुस्सा पी रहा है। मगर हमें तो हमारी आत्मा कचोटे-खाये जा रही थी। हम बहुत क्षुब्ध-खिन्न थे।

अगली सुबह हम फिर खलियान में ठेलों पर अनाज लाद रहे थे। जमीला ने उस क़िस्मत की मारी बोरी को

कसकर पकड़ा, उसके एक सिरे पर मजबूती से अपना पाँव रखा और खींचकर टुकड़े-टुकड़े कर डाला।

"लो सम्भालो अपने इन चिथड़ों को!" जमीला ने बोरी के टुकड़े तौलनेवाली औरत के पाँव पर दे मारे। वह हैरान-सी जमीला का मुंह ताकती रह गयी। "और टीम-लीडर से कह देना कि ऐसी और बोरियाँ हमारे गले न डाले।"

"यह तुम्हें हुआ क्या है? आख़िर मामला क्या है?"

"कुछ भी नहीं!"

दनियार अगले दिन सदा की भाँति चुपचाप और शान्त रहा। किसी प्रकार भी उसने अपनी भावनायें व्यक्त न होने दीं। मगर आज वह अधिक स्पष्ट रूप से लंगड़ा रहा था। बोरियाँ उठाते वक़्त तो उसका लंगड़ाना बहुत ही साफ़ नज़र आता था। जाहिर है कि उसका पुराना घाव फिर से हरा हो आया था। यह देखकर तो बार-बार हमें अपने जुर्म, अपने गुनाह का एहसास हो रहा था। फिर भी अगर वह हँसता, हँसी-ठिठोली करता तो यह दिमाग़ी तनाव कम हो जाता, दिल का बोझ हल्का महसूस होने लगता।

जमीला भी यह ज़ाहिर कर रही थी कि हर चीज़ सदा की तरह साधारण और सामान्य है। जमीला बड़ी मानिनी थी। वह सदा की भाँति हँस रही थी। मगर उसके दिल पर क्या बीत रही थी, यह मुझसे छिपा न था।

हमारे स्टेशन से लौटते-लौटते काफ़ी रात हो गयी थी। दनियार हमारे आगे-आगे था। रात ग़ज़ब की थी। अगस्त

की इन प्यारी रातों से भला कौन परिचित नहीं है। इन रातों में सटे हुए, फिर भी बहुत दूर-दूर सितारे झिलमिलाते हैं। एक सितारा तो जैसे किनारों से अपनी जगह जमकर ही रह गया था। वह तो मानो हैरान होकर अँधेरे की चादर में लिपटे हुए आकाश से नीचे की धरती को हैरानी भरी फटी-फटी नज़रों से देख रहा था। उसकी जमी हुई पलकें बार-बार जगमगा उठती थीं। दर्रा पार करते हुए मेरी आँखें इसी सितारे पर टिकी रहीं। घोड़े घर लौटने की जल्दी में थे। वे तेज़ी से क़दम बढ़ा रहे थे और पहियों के नीचे बजरी कड़कड़ा रही थी। स्तेपी में चिरायते के पौधे फूले हुए थे। हवा के झोंकों के साथ उनकी कड़वी गन्ध हम तक आ रही थी। पके हुए गेहूँ की ठण्डी फ़सलों से धीमी-धीमी सोंधी गन्ध आ रही थी। चिरायते और गेहूँ के साथ-साथ ही हवा में तारकोल और घोड़ों के पसीने की गन्ध भी थी। इस वातावरण से हमें कुछ चैन मिला।

एक तरफ़ जंगली गुलाब की झाड़ियों से ढकी हुई पहाड़ी चोटियाँ सड़क को निहार रही थीं। दूसरी तरफ़, बहुत निचाई पर बेंतों की झाड़ियों और जंगली पोपलारों के बीच से कुरकुरेव नदी कूदती-फाँदती, बेतहाशा भागी चली जा रही थी। दूर, फ़ासले के पुल पर से जब-तब कोई रेल-गाड़ी गड़गड़ाती हुई गुज़रती। रेल-गाड़ी के कहीं दूर, आँखों से ओझल हो जाने के काफ़ी देर बाद तक पहियों की खटाखट सुनाई देती रहती।

ऐसी ठण्डी प्यारी रात में ठेले की सवारी में एक

ख़ास मज़ा आ रहा था। घोड़ों की हिलती-डुलती पीठें, अगस्त की रात में इधर-उधर सुनाई देनेवाली आवाज़ें और हवा में बिखरी हुई गन्धें, यह सभी कुछ बहुत प्यारा लग रहा था। जमीला मेरे आगे थी। लगामें ढीली छोड़कर वह धीरे-धीरे गाती हुई इधर-उधर देख रही थी। मैं उसके दिल की हालत समझ रहा था। हमारी ख़ामोशी उसके दिल पर जैसे भारी पत्थर बनी हुई थी। ऐसी रंगीन, ऐसी प्यारी रात में कोई चुप्पी साधे रहे—तोबा, तोबा! यह रात तो गाने के लिए बनी थी।

आख़िर गीत फूट पड़ा और वह गाने लगी। वह गाने लगी शायद इसलिए कि हमारे सम्बन्धों की पहले जैसी स्वाभाविकता लौट आये। शायद वह गाने लगी थी इसलिए कि अपने अपराधी मन की परेशानी से कुछ देर के लिए छुटकारा पा सके। उसकी आवाज़ शरारत भरी और गूंजती हुई थी। वह अक्सर लोकप्रिय देहाती गीत ही गाती थी—'जैसे ही तुम गुज़रोगे साजन मेरे, मैं रूमाल हिलाऊँगी' और यह कि 'मेरा प्रियतम दूर, दूर, परदेस गया'। उसे बहुत-से गीत याद थे। वे इन्हें बहुत सीधे-सादे ढंग से, भावनाओं में बहकर गाती थी। सुननेवाले उसके गीतों के रस में डूबकर रह जाते थे। जमीला ने अचानक ही गाना बन्द कर दिया और दनियार को आवाज़ दी—"ए दनियार! तुम क्यों नहीं कुछ गाते? तुम भी तो जीवित हो न?"

"तुम गाओ, जमीला," घोड़ों की लगामें खींचते हुए

उसने कुछ घबराकर जवाब दिया। "मैं सुन रहा हूँ, बहुत ध्यान से सुन रहा हूँ।"

"मगर कान तो हम लोगों के भी हैं। क्यों हैं न? तुम अगर गाना नहीं चाहते तो न गाओ! कोई तुम्हें मजबूर थोड़े ही कर रहा है!" इतना कहकर जमीला फिर से गाने लगी।

जाने क्यों उसने दनियार से गाने के लिए कहा था! शायद यह कोरी सनक थी? शायद वह उसे बातचीत के लिए उकसाना चाहती थी? सम्भवतः वह यही चाहती थी क्योंकि थोड़ी ही देर बाद वह फिर चिल्लायी—

"अच्छा दनियार, यह तो बताओ कि तुम ने कभी किसी से मुहब्बत की?" और वह हँस दी।

दनियार ने कुछ भी जवाब न दिया। जमीला भी ख़ामोश हो गयी।

"बेशक उसने गाने के लिए ठीक ही आदमी खोजा है!" मैंने मन ही मन सोचा।

एक छोटी-सी नदी सड़क के बीच से होकर बहती थी। इसके क़रीब पहुँचकर घोड़ों की चाल धीमी पड़ गयी। उनके सुमों के नीचे गीले, सफ़ेद-चिकने पत्थर बजने लगे। हमने नदी का छिछला पाट पार किया कि दनियार ने अपने घोड़ों पर चाबुक फटकारा और दबी-घुटी आवाज़ में गाने लगा। सड़क के हर धचके के साथ ही उसकी आवाज़ टूट जाती—

मेरे पर्वत,
नीले, श्वेत-श्वेत वे पर्वत,
मेरे पर्वत।
जन्मभूमि मेरे पुरखों की!

इन पंक्तियों के बाद उसकी आवाज लड़खड़ायी, वह खाँसा और कुछ-कुछ फटी और भारी आवाज में उसने अगली पंक्तियाँ गायीं –

मेरे पर्वत,
नीले, श्वेत-श्वेत वे पर्वत,
वे ही जननी
जन्मभूमि
वे मेरे पर्वत...

यहाँ वह फिर रुक गया। जैसे कि किसी डर ने उसकी आवाज़ दबा दी और वह चुप हो गया।

मेरी आँखों के सामने उसकी झेंप, उसकी घबराहट की साफ़-साफ़ तस्वीर खिंच गयी। उसका डरती-डरती, काँपती-काँपती आवाज में गाना, गाते-गाते अचानक ही रुक जाना – इसमें कुछ था कि जो हृदय को छूनेवाला था, द्रवित करनेवाला था। शायद उसका कण्ठ बहुत ही सुरीला था। हमें विश्वास न हो रहा था कि गानेवाला दनियार ही है।

"वाह, वाह!" मैंने खुश होकर बढ़ावा दिया।

"तुमने पहले कभी क्यों नहीं गाया? गाओ! गाओ! तुम तो सचमुच गा सकते हो!" जमीला चिल्लायी।

सामने रोशनी दिखाई देने लगी थी। दर्रा वहाँ खत्म हो जाता था। घाटी की ओर से ठण्डी हवा के झोंके आ रहे थे। दनियार फिर से गाने लगा। उसने पहले की तरह ही डरते-डरते, घबराते-घबराते गाना शुरू किया, मगर धीरे-धीरे उसकी आवाज में जोर आने लगा। उसकी आवाज दर्रे में गूँजने लगी। वह दूर-दूर की पहाड़ी चोटियों से टकरा-टकराकर वापस आने और इधर-उधर फैलने लगी।

उफ़! उसके स्वर में कैसी आग थी, भावनाओं का कैसा उमड़ता-उफनता ज्वार था! मैं तो इसे अनुभव करके ठगा-सा ही रह गया। इसे क्या कहकर पुकारता, इसे कौनसी संज्ञा देता, न मैं यह तब जानता था और न आज ही जानता हूँ। यह सिर्फ़ उसके कण्ठ का सुरीलापन था या कुछ और? क्या यह उसकी आत्मा की आवाज़ नहीं थी? वही आत्मा की आवाज जो सुननेवाले के मन में भी उसी तरह की भावनाओं का तूफ़ान पैदा कर देती है, दिल की गहराइयों में सोई हुई भावनाओं में प्राण फूँक देती है। मैं आज भी इसका निर्णय करने में असमर्थ हूँ।

काश मुझमें दनियार के गीत की गूंज को फिर से पैदा करने की क्षमता होती! गीत में शब्द तो इने-गिने थे। मगर शब्द न होते हुए भी उस गीत में से एक गहन-गम्भीर वेदना झाँक रही थी। न इससे पहले और न बाद में ही मैं कभी ऐसा गीत सुन पाया। उसकी धुन न तो पूरी तरह

क़िर्गीज़ी थी और न क़ज़ाख़ी ही। उसमें दोनों का मिला-जुला रूप था। दनियार ने हिली-मिली इन दोनों जनताओं की मधुरतम स्वर-लहरियों को एक-दूसरी में समो दिया था। उसने इन्हें मिलाकर स्वरों का एक ऐसा ताना-बाना तैयार कर दिया था कि किसी और ने न तो पहले ही कभी ऐसी रस-धारा बहायी थी और न भविष्य में ही यह कभी सम्भव होगा। इस गीत में पहाड़ों की गूंज थी, स्तेपी का नग़मा था। कभी उसका स्वर हवा में तैरता हुआ क़िर्गीज़ पहाड़ों की ऊँचाइयों को छू लेता तो कभी क़ज़ाख़ स्तेपी में घूमने और बल खाने लगता।

मैं उसका वह गीत सुनता गया और दंग होता गया—"तो यह है असली दनियार! गुदड़ी में छिपा हुआ लाल! कौन भला इसकी कल्पना तक कर सकता था?"

नर्म और बुरी तरह रौंदी हुई सड़क पर बढ़ते हुए हम स्तेपी पार कर रहे थे। दनियार का स्वर ऊँचा होता गया। एक के बाद एक नयी और अधिक से अधिक सुरीली तानें उसके कण्ठ से फूटती गयीं, मुझे अधिक से अधिक हैरत में डालती गयीं। तो क्या सचमुच ही उसके अन्दर इतनी प्रतिभा, ऐसी कला छिपी पड़ी है? उसे यह हो क्या गया है? वह तो जैसे इसी दिन, इसी घड़ी के आने का इन्तज़ार कर रहा था!

क्यों वह बेगाना और अजीब-अजीब-सा लगता था? क्यों उसकी बेगानगी देखकर लोग कन्धे झटक देते थे, मुस्कराते थे? क्यों वह हर वक़्त, जैसे कि सपने देखा करता

था? क्यों उसे एकाकीपन से प्यार था? क्यों वह चुपचुप रहता था—आज अचानक ही मैं इन सभी बातों का राज़ जान गया। मैं समझ गया कि क्यों वह अपनी शामें गुज़ारता था पहाड़ी चोटी पर और रातें नदी के तट पर। मैं जान गया कि क्यों दूसरों को सुनाई न देनेवाली आवाज़ें उसी के कानों में आकर कुछ भेद फुसफुसाती हैं, आम तौर पर उदास रहनेवाली आँखें क्यों चमक उठती हैं। इस आदमी का मन लुटा हुआ है, यह बुरी तरह प्यार में टूटा हुआ है। और इसका प्यार? सो भी मामूली, किसी दूसरे आदमी के लिए ही नहीं है। यह और तरह का प्यार है—असीम प्यार—ज़िन्दगी और धरती का प्यार। हाँ, वह अपना प्यार अपनी आत्मा में, अपने संगीत में ही संजोये रहता है। यह प्यार ही उसका मार्ग-दर्शक है, उसके लिए उजाला और रोशनी है। जीवन से उदासीन कोई व्यक्ति कभी इस तरह दर्द में डूबकर न गा पाता, बेशक कितनी ही सुरीली उसकी आवाज़ क्यों न होती।

जैसे ही मुझे यह अनुभव होता कि आख़िरी तान खो बिखर गयी है कि एक नयी तान गूँजने लगती। जादू-सा करती हुई यह स्वर-माधुरी ऊँघती स्तेपी को फिर से जगा देती। स्तेपी आभार मानती हुई स्वरों के रस में बह जाती। गायक की यह प्यारी-प्यारी तानें तो जैसे उसे दुलार रही थीं, थपथपा रही थीं। गेहूँ की पकी हुई मटमैली फ़सलें दराँती की प्रतीक्षा में थीं। वे झील की सतह की तरह लहरा रही थीं। खेत में फटती पौ की कुछ-कुछ झलक दिखाई देने लगी थी।

मिल के क़रीब तो बरसों पुराने विल्लो पेड़ों की फ़ौज की फ़ौज खड़ी थी। वे अपने पत्तों को हवा में सरसरा रहे थे। नदी के पार खेतिहरों की कैम्प-फ़ायरें बुझती जा रही थीं। झुटपुटे में छाया-सा दिखाई देनेवाला एक घुड़सवार नदी के किनारे-किनारे सरपट घोड़ा दौड़ाता हुआ गाँव की तरफ़ जा रहा था। कभी वह बगीचों में लुकता-छिपता तो कभी फिर सामने आ जाता। सेबों की ख़ुशबू, फूली हुई मकई की दूध जैसी महक और सूखते हुए उपलों की गन्ध से हवा बोझिल थी। दीन-दुनिया से बेख़बर दनियर गाता रहा, गाता रहा। मस्त और झूमती हुई अगस्त की रात चुपचाप रस-विभोर होती रही, सुनती रही। घोड़े भी काफ़ी देर पहले से ही क़दम-क़दम चल रहे थे। वे भी रंग में भंग डालने को तैयार न थे।

दनियार की आवाज़ पंचम पर गूँज रही थी कि उसने सहसा तान तोड़ दी। उसने ज़ोर से हुँकार भरी और घोड़ों पर चाबुक चलाया। मैंने सोचा कि जमीला उसके पीछे सरपट घोड़े दौड़ायेगी। मैं उसका पीछा करने को तैयार था, मगर वह तो हिली-डुली तक नहीं। वह तो एक ओर को सिर लटकाये ज्यों की त्यों बैठी रही। वह तो जैसे हवा में तैरती और काँपती हुई अन्तिम स्वर लहरी का मज़ा ले रही थी। दनियार सरपट घोड़े दौड़ाता गया। रास्ते में हमने एक शब्द भी न कहा, कि हम गाँव में पहुँच गये। बात करने की ज़रूरत भी तो कुछ न थी। शब्द भी मन की बात कह सकें, हमेशा तो ऐसा नहीं हो पाता।

उस दिन के बाद तो हमारे जीवन में एकदम भारी परिवर्तन आ गया। मैं तो जैसे सदा ही से किसी अद्‌भुत, किसी वांछित सपने के साकार होने की प्रतीक्षा में था। सुबह-सबेरे हम ठेले में बोरियाँ लादते, स्टेशन पहुँचते और झटपट काम निपटाकर लौटने की करते। लौटते हुए दनियार का संगीत सुनने की बेक़रारी जो होती थी हमें! दनियार की आवाज़ मेरे जीवन का अंग बन गयी थी। हर वक़्त और हर जगह यह मेरे कानों में गूँजती रहती। सुबह ही सुबह मैं गीले, ओस भीगे अलफ़ालफ़ा पौधों के बीच से गुज़रता हुआ पिछाड़ी-बँधे घोड़ों की तरफ़ जाता। तब पहाड़ों के पीछे से हँसता हुआ सूरज मेरा स्वागत करने के लिए उचककर सामने आ जाता। तब भी दनियार का संगीत मेरा साथ देता। ओसाई करनेवाले बूढ़े गेहूँ को हवा में उड़ाते और धरती पर गेहूँ के सरसराते सुनहरे दानों की बरसात होती। इस बरसात की रिमझिम में भी मुझे दनियार का संगीत सुनायी पड़ता। स्तेपी के ऊपर कोई एकाकी बाज़ बड़ी शान से उड़ान भरता, चक्कर काटता तो उसमें तो मुझे दनियार के संगीत का रूप नज़र आता। यों कहिये कि मुझे हर जगह इसी की अनुभूति होती।

संध्या समय हम दर्रा पार करते होते तो मुझे लगता कि मैं किसी दूसरी दुनिया में पहुँच गया हूँ। उसका संगीत सुनते-सुनते मुझपर नशा-सा छा जाता, मेरी आँखें झिपने-सी लगतीं। मेरी अध-मिची आँखों के सामने अजीब ढंग से चिर जाने-पहचाने चित्र घूमने लगते। बचपन से ही ये दृश्य

मेरी आत्मा में बसे हुए हैं। बसन्त के नर्म-नर्म नीले और धुएँ रंगे चंचल बादल खेमों के ऊपर से गुज़रते। सरपट दौड़ते हुए घोड़ों के झुण्डों की टापों से धरती गूँज उठती। वे मुझे गर्मी के चरागाहों की तरफ़ जाते दिखाई देते। माथे पर लम्बे-लम्बे बालों और आँखों में दहकती चिनगारियोंवाले तेज़ युवा घोड़े बड़े गर्व से घोड़ियों से आगे निकल जाते। फिर पहाड़ियों पर भेड़ों के रेवड़ लावा की तरह फैल जाते। फिर किसी पहाड़ी चोटी से कोई जल-प्रपात गिरता दिखाई देता। इसके सफ़ेद फेनिल पानी से मेरी आँखें चौंधिया जातीं। तब सूरज नदी के पार नुकीली घास के झुरमुट में धीरे से खो जाता। क्षितिज के दहकते हुए छोर के साथ-साथ जानेवाला कोई एकाकी घुड़सवार जैसे कि डूबते सूरज का पीछा करता नज़र आता। सूरज को छूने के लिए उसे तो बस हाथ ही उठाना होता। और तब, वह भी घास के झुरमुट में, झुटपुटे में ग़ायब हो जाता।

नदी पार क़ज़ाख़ स्तेपी काफ़ी चौड़ी है। अपने लम्बे-चौड़े पैर फैलाने के लिए उसने पहाड़ों को दूर-दूर धकेल दिया है। ख़ुद बीच में अकड़ी हुई और वीरान-सी पड़ी है।

लड़ाई की उस स्मरणीय गर्मी में स्तेपी में इधर-उधर कैम्प-फ़ायर दिखाई देने लगी। रिसाले के घोड़ों के झुण्ड के झुण्ड यहाँ आये, स्तेपी गर्म धूल के बादलों से ढक गयी और घुड़सवार सभी दिशाओं में सरपट घोड़े दौड़ाते दिखाई दिये। मुझे आज भी याद है कि कैसे नदी के दूसरे किनारे के साथ-

साथ भागता हुआ एक क़ज़ाख़ अपनी चरवाहे की भारी भरकम आवाज़ में चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था –

"क़िर्ग़ीज़ जवानो! अपने ज़ीन साध लो – दुश्मन आ पहुँचा है!" फिर वह धूल और गर्म हवा की एक लहर में खो गया।

दुश्मन की चुनौती का मुँहतोड़ जवाब देने के लिए सभी लोग कमर कसकर खड़े हो गये। हमारे पहले घुड़सवार-दस्ते गहन गम्भीर गरज के साथ पहाड़ों से नीचे उतरे और घाटियों में पहुँचे। हज़ारों रकाबें खनखनायीं, हज़ारों जीगितों ने अपने ज़ीन साधे। उनके आगे-आगे रंगदार डण्डों पर लाल झण्डे लहराये। उनके घोड़ों की टापों द्वारा उड़ायी गयी धूल के पीछे इन जीगितों की माताओं और पत्नियों की दर्दभरी आहें फड़फड़ायीं और धरती से टकरायीं –

"स्तेपी तुम्हारा हिफ़ाज़त करे! हमारे बहादुर मानास की रूह तुम्हारी मददगार हो!"

लड़ाई में जाते हुए लोग अपने क़दमों से बनी, आँसुओं से भीगी पगडण्डियाँ पीछे छोड़ते जाते थे।

इस महान् संसार में बहुत सांसारिक सौन्दर्य है, बहुत चिन्तायें हैं, मैंने पहली बार यह अनुभव किया। दनियार के संगीत ने मेरी आँखें खोल दीं। उसने यह संगीत सीखा कहाँ से? कहाँ सुना उसने ऐसा गाना? बरसों बरस अपनी मातृभूमि के प्यार से वंचित रहकर उसकी विरह वेदना में जलने-घुलनेवाला आदमी ही अपनी धरती के प्यार में इस तरह डूब सकता है। वह गाता तो मुझे लगता कि जैसे वह

स्तेपी की सड़कों पर घूमनेवाला एक छोटा-सा लड़का है। शायद तभी छुटपन में ही उसकी आत्मा में मातृभूमि के प्यार के अंकुर फूटे होंगे? या फिर शायद लड़ाई की आग में ही यह प्रेम जन्मा-पनपा?

दनियार का गीत सुनता तो मेरा मन होता कि धरती पर लेट जाऊँ, इसे अपनी बाँहों में भर लूँ, कस लूँ। मेरा मन होता कि इसका आलिंगन करके एक बेटे की तरह अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ और कहूँ कि तुम माँ हो, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। इन्हीं दिनों मैंने अपने अन्दर किसी नयी चेतना को पलकें खोलते अनुभव किया। इस चेतना को बाँध लेने के लिए मेरे पास शब्द न थे। पर यह चेतना मेरे मन में तूफ़ान की तरह उमड़ती-घुमड़ती, मुझसे अभिव्यक्ति की माँग करती। हाँ, हाँ, अभिव्यक्ति की माँग करती। वह तो जैसे मुझसे कहती कि तुम्हारे लिए इस दुनिया को देखना, इसे अनुभव कर लेना ही काफ़ी नहीं है। तुम्हें दुनिया को भी अपनी भावनायें, अपने सपने, अपने भाव, जानने और अनुभव करने का अवसर देना चाहिए। तुम दनियार की तरह अपनी इस धरती का रूप निखारो, सँवारो और लोगों के सामने पेश करो। अपनी इस अनबूझ-अनजानी चेतना की खुशी और डर से मैं दम साधकर रह जाता। उस वक़्त मैं यह न जानता था कि मेरी आत्मा में चित्रकार बसा है और यह कि मैं कभी चित्रकार बनूँगा।

बचपन से ही मुझे रेखायें खींचने का शौक़ था। मैं अपनी पाठ्य पुस्तकों के रेखाचित्रों की नक़ल तैयार करता

तो लड़के कहते, "बिल्कुल असल जैसी है"। दीवाल-समाचारपत्र के लिए मैं रेखाचित्र बनाता तो अध्यापक मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते। मगर फिर जंग छिड़ गयी, मेरे भाई फ़ौज में चले गये, मैंने स्कूल छोड़ दिया और अपनी ही उम्र के अन्य लड़कों की तरह सामूहिक फ़ार्म पर काम करने लगा। रंग और तूलिकायें तो मैं एकदम भूल ही गया। फिर कभी इनसे नाता जुड़ेगा इसका ख़्याल भी छोड़ दिया। मगर दनियार के गीत ने मेरी आत्मा के तार झनझना दिये। मैं तो अपने-आपको भूल ही गया। भौचक्का-सा बहकी-बहकी नजरों से दुनिया को देखने लगा। मैंने तो जैसे धरती पर पहली बार आँख खोली थी।

और जमीला! जमीला में अचानक ही कैसी तबदीली आ गयी थी! चपर-चपर जबान चलानेवाली जिन्दादिल जमीला तो जैसे कभी थी ही नहीं। उसकी धुँधली-धुँधली नम आँखों पर वसन्तकालीन उजली-उजली बदली छायी रहती। स्टेशन तक के लम्बे रास्ते में वह अपने ही विचारों में डूबी रहती। कभी-कभी एक अनबूझ और स्वप्निल-सी मुस्कान उसके होंठों पर धीरे-से खेल जाती। सिर्फ़ जमीला ही उस मुस्कान का अर्थ समझती थी। बहुत बार वह कन्धे पर भारी बोरी लादे हुए जहाँ की तहाँ ठिठककर रह जाती। कोई अनजाना-सा डर उसके पाँव जकड़ लेता। उस समय वह मानो किसी तेज़ चंचल नदी के किनारे पर खड़ी दिखाई देती। पार जाने का ख़तरा मोल ले या न ले, वह यही सोचती लगती। वह दनियार से खिची-खिची रहती, कन्नी काटती, उसे नजर-भर देखने की हिम्मत न करती।

देर तक मन ही मन यातना सहन करने के बाद जमीला ने एक दिन खलियान में जैसे विवशतावश खीझकर दनियार से कहा—

"अपनी क़मीज़ उतार दो—मैं ही इसे धो डालूँगी।"

क़मीज़ उसने नदी में धोयी और सूखने के लिए फैला दी। वह ख़ुद उसके पास बैठकर बड़ी सावधानी से सिलवटें ठीक करने लगी। धूप की चमक में उसने उस क़मीज़ के फटे हुए कन्धे देखे, सिर झटका, फिर धीरे-धीरे और उदास होकर उसे ठीक-ठाक करने लगी।

जमीला सिर्फ़ एक बार ही पहले की तरह ठहाका लगाकर खुलकर हँसी। सिर्फ़ एक बार ही पहले की तरह उसकी आँखों में चमक दिखाई दी। हुआ यह कि एक दिन युवतियों, लड़कियों और सेना से वापस भेजे गये जीगितों का हो-हल्ला मचाता हुआ दल खलियान में आ पहुँचा। वे अलफ़ालफ़ा के खेतों में से अपने घर लौट रहे थे।

"हे बहिनो! सफ़ेद रोटी सिर्फ़ तुम्हें ही नहीं, हमें भी अच्छी लगती है! हमारी भी पेट-पूजा करो वरना हम तुम्हें नदी में फेंक देंगे!" जीगित चिल्लाये और मज़ाक़ में उन्होंने उँगली दिखायी।

"डराना-धमकाना किसी और को! लड़कियों के लिए तो मैं कुछ ढूंढ़ निकालूँगी, मगर तुम्हें अपना इन्तज़ाम ख़ुद ही करना होगा!" जमीला ने हँसते-हँसते जवाब दिया।

"यह बात है तो हम तुम सभी को पानी में धकेल देंगे!"

लड़के-लड़कियाँ एक-दूसरे पर पिल पड़े। गुल-गपोड़ा करते, चीख़ते-चिल्लाते और ठहाके लगाते हुए वे एक-दूसरे को पानी में धकेलने लगे।

"पकड़ लो! धकेल दो पानी में!" दूसरों की तुलना में ज़्यादा ज़ोर से चिल्लाती हुई जमीला खिलखिलाकर हँस रही थी। वह अपने विरोधियों को बड़ी होशियारी से चकमा दे रही थी।

हुआ कुछ ऐसा कि सभी जीगितों की नज़र जमीला पर टिकी थी। हर कोई उसे पकड़ने और अपने पास सटाने की कोशिश में था। अचानक तीन नौजवानों ने उसे खींच लिया और नदी तट की तरफ़ उठा ले गये।

"हमें चूमो वरना तुम्हें पानी में फेंक देंगे!"

"लाओ, इसे झूले दें!"

जमीला दायें-बायें हो रही थी, निकल भागने के लिए दाँव-पेंच लड़ा रही थी। वह हँसती हुई अपनी सहेलियों को मदद के लिए पुकार रही थी। मगर उसकी सहेलियाँ तो नदी के किनारे-किनारे बेतहाशा ऊपर-नीचे भागती हुई पानी में से अपने रूमाल निकाल रही थीं। जीगितों ने ज़ोर का ठहाका लगाया और जमीला को पानी में धकेल दिया। वह पहले से कहीं ज़्यादा सुन्दर होकर पानी से बाहर आयी। उसके बालों से धार बाँधकर पानी बह रहा था। उसकी गीली सूती पोशाक उसके जिस्म से चिपक गयी थी। उसकी गोल-गोल

जाँघें और कसी हुई छातियाँ अब ज्यादा साफ़ और उभरी हुई नजर आने लगी थीं। मगर जमीला का इनकी तरफ़ ध्यान ही न गया। वह तो इधर-उधर हिलती-डुलती हँसती जा रही थी। उसके दमकते हुए चेहरे से लगातार पानी की धारें बह रही थीं।

"हमें चूमो!" जीगित अपनी बात पर अड़े हुए थे।

जमीला ने उन्हें चूमा। मगर उन्होंने उसको फिर पानी में धकेल दिया। पानी से भीगे हुए भारी केशों को पीछे की तरफ़ झटकते हुए वह फिर जोर से हँसी।

युवा लोगों का यह हँसी-मजाक़ सभी लोगों को बहुत अच्छा लग रहा था। हँसी के मारे खलियान में बैठे हर आदमी के पेट में बल पड़ रहे थे। ओसाई करनेवाले बूढ़ों ने अपने फावड़े फेंककर आँखों से आँसू पोंछे। उनके साँवले चेहरों की झुर्रियाँ ख़ुशी से चमक रही थीं। घड़ी-भर में ही उनके चेहरों पर जवानी का रंग लौट आया था। मैं भी जी भरकर हँस रहा था। जीगितों से जमीला की रक्षा करने का पावन-कर्तव्य मैं आज पहली बार भूला था।

एक दनियार ही खामोश था। अचानक ही उसपर मेरी नजर गयी और मैं भी ठिठककर रह गया। खलियान के सिरे पर वह टाँगें चौड़ी करके बिल्कुल अकेला खड़ा था। मुझे महसूस हुआ कि वह तेजी से भागकर आगे जायेगा और जमीला को जीगितों से छीन लेगा। वह एकटक जमीला को ही देख रहा था। उसकी नजर में उदासी थी, प्रशंसा थी, दर्द था और ख़ुशी की झलक भी। जमीला का रूप उसके

लिए दुख का कारण था और सुख का स्रोत भी। जीगित जब बारी-बारी से उसे अपने पास सटाकर चूमने के लिए मजबूर करते तो दनियार अपना सिर झुका लेता। ऐसा लगता कि वह अभी यहाँ से चल देगा, मगर वहीं का वहीं खड़ा रह जाता।

इसी बीच जमीला ने भी उसे देख लिया। उसकी हँसी तो जैसे एकदम ही हवा हो गयी। उसने सिर झुका लिया।

"बस काफ़ी हँसी-मज़ाक़ हो चुका!" हँसते और शोर-शोर मचाते हुए जीगितों को उसने सहसा ही डाँट दिया।

एक जीगित ने जमीला का आलिंगन करना चाहा।

"जाओ यहाँ से!" उसे पीछे धकेलते हुए उसने कहा। उसने चोरी-चोरी और अपराधी की सी नज़र से दनियार की तरफ़ देखा और अपनी पोशाक निचोड़ने के लिए झाड़ियों में भाग गयी।

उनके सम्बन्धों में बहुत कुछ मेरी समझ के बाहर था। सच बात तो यह है कि मैं इसके बारे में सोचता हुआ भी घबराता था। जमीला ख़ुद ही दनियार से कन्नी काटती और फिर भी जब मैं उसे उदास-उदास देखता तो मुझे बड़ी बेचैनी अनुभव होती। अगर वह पहले की ही तरह उसपर हँसती, फब्तियाँ कसती तो ज्यादा अच्छा होता। पर साथ ही हर रात गाँव वापस लौटते हुए दनियार के संगीत की गूँज मेरे मन में उन दोनों के लिए ख़ुशी की एक अजीब-सी भावना पैदा करती, मुझे अजीब-सी प्रेरणा देती।

हम दर्रा लाँघते तो जमीला ठेले में सवार रहती। स्तेपी में पहुँचकर वह ठेले के साथ-साथ चलने लगती। मैं भी ऐसा ही करता। ठेले के साथ-साथ चलते हुए गायक के स्वर का और भी अधिक मज़ा आता। शुरू में तो हम अपने-अपने ठेले के साथ चलते मगर जल्द और अनजाने ही कोई अज्ञात शक्ति हमें दनियार के क़रीब खींच ले जाती। हमारे मन में उसके चेहरे और आँखों के भाव पढ़ने की चाह जग जाती। हम यह देखना चाहते कि गायक क्या सचमुच ही मुरझाया हुआ और अपने में सिमटा-सिमटाया रहनेवाला दनियार है!

हर बार ही मैंने यह देखा कि जमीला दनियार को देखकर भौचक्की-सी रह जाती है, द्रवित हो उठती है। वह धीरे-धीरे उसकी तरफ़ अपना हाथ बढ़ाती। दनियार को इसका कुछ भी पता न लगता। उसकी आँखें दूर, बहुत दूर कहीं टिकी होतीं। सिर के पीछे हाथ बाँधे हुए वह दायें-बायें झूमता रहता। जमीला का हाथ लाचारी में ठेले के सिरे पर जा गिरता। फिर वह चौंकती, झटपट हाथ पीछे खींच लेती और वहीं खड़ी रह जाती। सिर झुकाये और हतप्रभ-सी वह सड़क के बीचोंबीच खड़ी रहती, नज़र दनियार का पीछा करती और कुछ क्षण बाद वह फिर से चलने लगती।

कभी-कभी मैं यह सोचता कि जमीला और मैं एक जैसी और अनबूझ भावना से बेचैन रहते हैं। मुझे लगता कि जैसे कोई अनजानी भावना एक ज़माने से हमारी आत्माओं

में लुकी-छिपी बैठी है। मैं सोचता कि शायद अब उसे सजीव करने का वक़्त आ गया है?

जमीला अब भी अपने को काम-काज में खो देती। मगर भूले-भटके आराम के जो कुछ क्षण मिलते और हम खलियान के आस-पास ये क्षण बिताते तो वह बहुत बुरी तरह बेचैन हो उठती। वह ओसाई करनेवालों के पास जा खड़ी होती। एक निराली अदा और शान से वह गेहूँ से भरे हुए कुछ फावड़े हवा में उछालती, फिर यकायक फावड़ा नीचे फेंकती और भूसे की टाल की तरफ़ चली जाती। यहाँ वह छाया में बैठ जाती। उसे जैसे कि अपनी ही छाया से डर लगता और वह मुझे आवाज़ देती–

"यहाँ आ जाओ, किचिने-बाला! आओ, थोड़ी देर यहाँ बैठें।"

मैं हमेशा ही यह आशा लगाये रहता कि वह मुझे कोई महत्त्वपूर्ण बात बतायेगी, कि वह मुझे अपनी हर वक़्त की परेशानी का कारण समझायेगी। मगर इसके बारे में वह कभी ज़बान ही न खोलती। वह चुपचाप मेरा सिर अपनी गोद में रख लेती और कहीं दूर शून्य में अपनी दृष्टि गड़ा देती। वह मेरे रोमांचित बालों में उँगलियाँ फेरती और अपने गर्म-गर्म काँपते हाथों से धीरे-धीरे मेरा मुँह थपथपाती। मैं नज़र उठाकर उसकी तरफ़ देखता, उसके चेहरे को निहारता। मुझे वहाँ अनबूझ परेशानी और पीड़ा की झलक दिखाई देती। मैं इस पीड़ा में अपनी छाया देखता। अवश्य ही कुछ तो उसकी आत्मा को बुरी तरह

कचोटता रहता था। अवश्य ही कोई तूफ़ान उसकी आत्मा में उमड़ता-घुमड़ता था। वह तूफ़ान मन की चट्टान बेधकर बाहर आने को उद्विग्न था, मगर जमीला में उसका सामना करने की ताब न थी, वह काँपती डरती थी। उसके जिस्म का रोयाँ-रोयाँ मानो यह कहने को बेक़रार था कि उसे मुहब्बत हो गयी है। मगर वह अपनी इसी बेक़रारी से पिण्ड छुड़ाने के लिए भी हद से ज्यादा बेक़रार रहती। ठीक जमीला की तरह मैं यह चाहता और नहीं भी चाहता था कि वह दनियार से प्रेम करे। आखिर वह हमारे घर की बहू थी, मेरे भाई की बीवी थी।

ऐसे विचार आते और जाते। मैं इन्हें अपने दिल में जगह न देता, निकाल बाहर करता। मैं जमीला के किसी बालक की तरह अधखुले होंठ देखता रहता, आँसुओं से धुँधली पड़ी आँखों पर नजर जमाये रहता। यही मेरे लिए दुनिया की सबसे बड़ी ख़ुशी होती। कितनी प्यारी, कितनी सुन्दर थी जमीला! क्या जादू था उसकी सूरत में, क्या खिंचाव था उसके चेहरे में! मैं यह अनुभव करता, मगर उस वक़्त इसे समझ न पाता। अभी भी मैं कभी-कभी अपने से पूछता रहता हूँ – क्या, प्रेम के कारण कवि या चित्रकार की प्रेरणा जैसी अनुभूति होने लगती है? जमीला को देखते-देखते मेरा कुछ इस तरह मन होता कि उठकर स्तेपी म भाग जाऊँ। धरती और आकाश को पुकारूँ। उनसे पूछूँ कि किस तरह मैं अपने मन की अजीब-सी ख़ुशी और

अनजानी बेचैनी पर क़ाबू पाऊँ। और मैं समझता हूँ कि एक बार मुझे इसका जवाब मिला भी।

हर दिन की तरह हम स्टेशन से लौट रहे थे। रात घिर आयी थी। सितारे मधुमक्खियों की तरह आकाश में भीड़ मचाये थे। स्तेपी ऊँघ रही थी। चारों तरफ़ के गहरे सन्नाटे में सिर्फ़ दनियार का गीत गूँज रहा था। उसकी आवाज़ ख़ामोशी को चीरती हुई सभी तरफ़ अपने पंख फैलाती और दूर के रेशमी अँधेरे में सिमट जाती। मैं और जमीला उसके पीछे-पीछे चल रहे थे।

जाने उस दिन दनियार के मन पर क्या बीती थी – उसकी आवाज़ में ऐसी गहरी, मन को छूनेवाली कुछ ऐसी उदासी, कुछ ऐसा दर्द था कि दया और सहानुभूति से हमारी आँखें छलछला आयीं।

जमीला ठेले के साथ-साथ चल रही थी। वह कसकर उसे बग़ल से पकड़े थी। उसका सिर लटका हुआ सा था। दनियार की आवाज़ फिर पंचम में गूँजी। जमीला ने अपना सिर झटका, और ठेले में दनियार की बग़ल में जा बैठी। वह छाती पर हाथ बाँधे वहाँ बुत बनी बैठी थी। मैं ठेले के साथ-साथ चल रहा था। उन्हें अच्छी तरह से देख लेने के लिए मैं झटपट एक क़दम आगे बढ़ गया। दनियार को तो जमीला का पता तक न लगा। वह पहले की तरह गाता रहा। मैंने जमीला के हाथ नीचे जाते देखे, वह दनियार की तरफ़ झुकी और धीरे से उसने अपना सिर उसके कन्धे पर रख दिया। चाबुक के स्पर्श से घोड़ा चौंककर

अपनी चाल बदल लेता है। यही दनियार के साथ हुआ। जमीला के सिर के स्पर्श से वह चौंका, उसकी आवाज़ ज़रा काँपी और फिर पहले से ज़्यादा ज़ोर के साथ गूँज उठी। वह प्रणय गीत गा रहा था।

मैं तो सकते में आकर रह गया। स्तेपी में तो जैसे बहार आ गयी। अँधेरे को चीरती हुई वह तो जैसे सजीव होकर साँस लेने लगी। उसके महान विस्तार में मुझे दो प्रेमी दिखाई दिये। पर उनकी आँखें मुझे न देख रही थीं। मैं तो जैसे वहाँ था ही नहीं। मैं उनके साथ-साथ चल रहा था। मैं उन्हें गीत की लय के साथ-साथ झूमते हुए देख रहा था। वे अपने को और दुनिया को भूले हुए थे। गले से खुली हुई वही फटी-पुरानी फ़ौजी क़मीज़ पहने हुए यह वही हमारा जाना-पहचाना दनियार था। मगर अँधेरे में उसकी आँखें दहकती-सी दिखाई दे रही थीं। डरी-सहमी, सिमटी-सिमटायी, दनियार से चिपकी हुई, वह मेरी अपनी ही जमीला थी। उसकी आँखों की कोरों में आँसू की बूँदें चमक रही थीं। नया जन्म हुआ था उन दोनों का! असीम और अपार थी उनकी ख़ुशी! और क्या यह ख़ुशी नहीं थी? दनियार की छाती में मातृभूमि के प्यार का जो सागर हिलोरे लेता था क्या उसी प्रेम में वह जमीला को साझीदार नहीं बना रहा था? क्या मातृभूमि के इसी तूफ़ानी प्रेम ने उसके मन में प्रेरणा से ओत-प्रोत संगीत को जन्म नहीं दिया था? हाँ, हाँ, वह जमीला को उसी प्रेम का

साझीदार बना रहा था, वह उसके लिए गा रहा था, उसके गीतों में वही बसी थी।

दनियार का संगीत मुझमें एक अजीब-सी उत्तेजना भर देता था। अब फिर मुझे वही अनुभूति हुई। मेरा मन क्या चाहता है, सहसा यह बात मेरे मन के दर्पण पर प्रतिबिम्बित हो उठी। मेरी उँगलियाँ उनका चित्र बनाने के लिए बेक़रार थीं।

अपने इस विचार की चेतना से ही मैं सिहर उठा। मगर मेरी चाह, डर से प्रबल थी। वे जैसे दिखाई दे रहे हैं वैसी ही रेखायें खींचकर मैं उन्हें चित्रपट पर उतारूँगा—इसी तरह ख़ुशी से आत्मविभोर! मगर क्या मैं ऐसा कर भी पाऊँगा? डर और ख़ुशी ने मेरी आती-जाती साँसों को दबोच लिया। मैं तो जैसे जादू में बंधा-सा चल रहा था। मैं भी बहुत ख़ुश था। उस वक़्त यह जो न जानता था कि आगे चलकर अपनी इस सनक, इस जनून की मुझे क्या क़ीमत अदा करनी होगी। मैंने अपने-आपसे कहा कि अब मैं भी दनियार की नज़र से ही धरती को देखूँगा, कि मैं रंगों में उसके संगीत को ढालूँगा। अपने चित्र में मैं पहाड़ों और स्तेपी को उतारूँगा। उसमें तरह-तरह की घास, बादलों, नदियों और लोगों को भी जगह दूँगा। मगर तभी यह ध्यान आया—रंग कहाँ से लाऊँगा? स्कूल से? मगर उन्हें तो ख़ुद भी इनकी ज़रूरत रहती है। वे भला क्यों देंगे। अब जैसे कि पहाड़ उठाने के बराबर यही मुश्किल काम था।

दनियार ने अचानक ही गीत की लय तोड़ दी। जमीला ने भावावेश में उसके गिर्द बाँहें डाल दी थीं। मगर झटपट ही उसने अपनी बाँहें खींच लीं। घड़ी-भर के लिए तो उसे जैसे काठ मार गया, फिर वह अपनी जगह से खिसकी और नीचे कूद गयी। दनियार ने झिझकते-झिझकते लगामें खींच लीं। घोड़े ठहर गये। जमीला दनियार की तरफ़ पीठ करके सड़क के बीचोंबीच खड़ी थी। फिर उसने सिर झटका, कनखियों से उसे देखा और जैसे-तैसे आँसू पीते हुए कहा–

"इस तरह मुझे क्यों देख रहे हो?" घड़ी-भर रुकने के बाद उसने फिर कड़ाई से कहा–"इस तरह मुझे मत देखो, घोड़े बढ़ाओ!" इतना कहकर वह अपने ठेले की तरफ़ चली गयी। "तुम क्या मुँह बाये खड़े हो?" जमीला ने मुझे डाँटा। "चलो अपने ठेले में, सम्भालो लगामें! ओह, तुम तो मेरे नाक में दम किये रहते हो!"

"इसे हुआ क्या है?" घोड़े हाँकते हुए मैंने मन ही मन सोचा। वैसे उसके मन की थाह लेना मुश्किल न था। उसे बहुत निराशा हुई थी। वह विवाहिता थी, उसका पति जीवित था। वह सरातोव अस्पताल में था। मैंने फ़ैसला किया कि इस बात को मैं पहेली ही बनी रहने दूँगा। मुझे जमीला पर ग़ुस्सा था, अपने पर खीझ आ रही थी। अगर मुझे यह मालूम हो जाता कि इस दिन के बाद दनियार का नग़मा सो जायेगा, कि फिर कभी उसकी आवाज़ मेरे कानों

में न गूँजेगी तो शायद मैं जमीला से सचमुच ही नफ़रत करने लगता।

मेरी नस-नस दर्द कर रही थी। वापस लौटकर घास के बिछौने में पड़ रहने की प्रतीक्षा भी मेरे लिए दूभर हो रही थी। अँधेरे में दुलकी चलते हुए घोड़ों की पीठें हिल-डुल रही थीं। ठेले की खड़खड़ाहट मुसीबत बनी हुई थी। लगामें मेरे हाथों से खिसक-खिसक जाती थीं।

मैं खलियान में लौटा। जैसे-तैसे मैंने घोड़ों का साज़ उतारा और उसे ठेले के नीचे फेंक दिया। सूखी घास के ढेर के क़रीब पहुँचते ही मैं लड़खड़ाकर उसपर गिर पड़ा। दनियार ही घोड़ों को चरागाह में ले गया।

मैं अगली सुबह उठा तो बहुत ख़ुश था। जमीला और दनियार–मैं उनका चित्र बनाऊँगा! मैंने कसकर आँखें बन्द कर लीं। वास्तव में मैं इनका कैसा चित्र बनाऊँगा मैंने इसकी कल्पना करने का यत्न किया। मेरी आँखों के आकाश पर चित्र खिंच गया। मैं काम शुरू कर सकता हूँ। मुझे ज़रूरत है तो बस तूलिका की, रंगों की।

मैं नदी की तरफ़ भागा। नहाया-धोया और फिर पछाड़ी-बँधे घोड़ों की तरफ़ दौड़ गया। ठण्डी ओस भीगी अलफ़ालफ़ा घास मेरी टाँगों के बीच ज़ोर से सरसरा रही थी। वह मेरे फटे हुए तलवों म काँटे से चुभा रही थी। मगर मुझे यह सभी कुछ बहुत प्यारा लग रहा था। मैं भागता हुआ अपने इर्द-गिर्द की हर चीज़ को मन में उतारता जा रहा था। सूरज पहाड़ों की ओट में से सामने

आ रहा था। सिंचाई खाई के पास ही जैसे-तैसे सूरजमुखी का एक फूल उग आया था। वह सूरज की किरणों को चूम लेने के लिए सूरज की तरफ़ उचक रहा था। ललचाई-ललचाई-सी सफ़ेद झाड़ियाँ इस फूल को चारों तरफ़ से घेरे थीं, मगर फूल वहाँ चट्टान की तरह दृढ़ खड़ा था। वह प्रभात बेला की किरणों को समेट रहा था, अपनी पीली जीभों द्वारा उन झाड़ियों से उन्हें छीन-छीनकर अपनी बीजों की भारी और कसी हुई टोपी का पोषण कर रहा था। ठेले के पहियों ने मोड़ मुड़ते हुए कीचड़ को बिलो डाला था। उन पहियों के चक्रों से अब पानी की बूँदें चू रही थीं। इधर मेरे चारों ओर कमर तक ऊँची और महकी हुई पुदीने की घास का द्वीप-सा फैला था। मैं अपनी जन्मभूमि पर भागा जा रहा था, मेरे सिर के ऊपर से अबाबीलों के झुण्ड गुज़र रहे थे। काश मेरे पास रंग होते! सुबह का सूरज, नीले श्वेत पहाड़, ओस भीगी अलफ़ालफ़ा घास और खाई के किनारे पर खड़ा हुआ एकाकी सूरजमुखी का फूल मैं इन सभी को रंगों में ढाल देता।

मैं खलियान में लौटा। मेरी ख़ुशी एकदम काफ़ूर हो गयी। मैंने वहाँ जमीला को देखा। वह उदास थी, चेहरा उतरा हुआ था और उसकी आँखों के नीचे काले घेरे नज़र आ रहे थे। शायद उसने रात आँखों में काट दी थी। वह न मुस्करायी, न मुझसे बोली हो। तभी उरुज़मत वहाँ आ गया। जमीला ने उसके पास जाकर कहा—

"सम्भालो अपना यह ठेला! मुझे जहाँ चाहो भेज दो, मगर मैं अनाज लेकर स्टेशन पर हरगिज़ नहीं जाऊँगी!"

"यह तुम्हें हुआ क्या है, बेटी? क्या किसी ज़हरीली मक्खी ने तुम्हें काट लिया है?" उरुज़मत ने हैरान होकर स्नेहभरी आवाज़ में पूछा।

"मक्खियाँ काटती हैं बछड़े-बछेड़ों को! मुझसे इसका कारण मत पूछो! बस मैंने कह जो दिया कि नहीं जाऊँगी तो नहीं जाऊँगी!"

उरुज़मत के चेहरे से मुस्कान ग़ायब हो गयी।

"मुझे इसकी कुछ परवाह नहीं कि तुम क्या चाहती हो! काम तो तुम्हें करना ही होगा।" उसने अपनी बैसाखी धम से ज़मीन पर मारी। "अगर किसी ने तुम्हें तंग किया है तो तुम मुझे उसका नाम बताओ। मैं उसी बैसाखी से उसका सिर तोड़ डालूँगा। अगर ऐसा कुछ नहीं तो यह बचपन छोड़ो। जानती हो न यह फ़ौजियों की रोटी का सवाल है! तुम्हारा अपना मियाँ भी उन्हीं में है!" वह गुस्से से घूमा और बैसाखी टेकता हुआ दूर चला गया।

जमीला सकपकाकर रह गयी। वह शर्म से गड़ गयी और फिर दनियार की तरफ़ देखकर उसने गहरी साँस ली। वह जमीला की तरफ़ पीठ किये हुए एक तरफ़ को खड़ा था और घोड़ों का साज़ कस रहा था। जमीला घड़ी-भर के लिए तो जहाँ की तहाँ खड़ी रहकर चाबुक से खिलवाड़ करती रही। फिर उसने ज़ोर से कन्धे झटककर जैसे मजबूरी ज़ाहिर की और ठेले की तरफ़ चली गयी।

उस दिन हम मामूल से कुछ पहले लौट आये। दनियार रास्ते-भर अपने घोड़े सरपट दौड़ाता रहा। जमीला चुप-चुप और मुरझायी-मुरझायी रही। मैंने तो जैसे ही अपने सामने काली और झुलसी हुई स्तेपी देखी तो आँखों पर विश्वास ही न हुआ। अरे, अभी कल तो यहाँ बहार ही बहार थी। मुझे लगा कि जैसे किसी परी की कहानी में ही मैंने वह सब कुछ देखा-सुना था। किन्तु मेरे मानस पर खिंच जानेवाला खुशी का चित्र तो किसी तरह भी मिटने को ही तैयार न था। मैंने जीवन का सुखदतम सपना देखा था। इस सपने की हर रेखा मेरी कल्पना में बार-बार उभर रही थी। मेरे दिल-दिमाग़ में आखिर यही सपना बसकर रह गया। अनाज तौलनेवाली लड़की से जबतक मैंने एक मोटा सफ़ेद काग़ज़ हासिल न कर लिया, मुझे चैन न पड़ा। मैं भागा और भूसे की एक टाल के पीछे जाकर छिप रहा। रास्ते में मैंने एक फावड़ा भी उठा लिया और उसके तख़्ते पर उस काग़ज़ को बिछा दिया। अब मेरा दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था मानो उछलकर बाहर आ जाना चाहता हो।

"अल्लाह तुमपर रहमत के फूल बरसाये!" मैं फुसफुसाया। घोड़े पर पहली बार बिठाते हुए मेरे पिता ने भी कभी यही शब्द कहे थे। तब मैंने काग़ज़ पर पेंसिल चलायी। मुझ बेउस्ताद की ये पहली रेखायें थीं। मगर जैसे ही काग़ज पर दनियार का नाक-नक़्शा उभरा कि मैं सब कुछ भूल गया। मैंने कल्पना की, अगस्त की रात में स्तेपी

की। अपनी कल्पना की उड़ान में मैंने दनियार का गीत सुना, पीछे की तरफ़ झुका उसका सिर और उघाड़ा गला देखा। फिर मेरे सामने जमीला का चित्र उभरा। वह दनियार के कन्धे पर सिर रखे थी। फिर मैंने ठेला देखा और ठेले में वे दोनों थे। उन्होंने ठेले के आगे के भाग में लगामें फेंकी हुई थीं। अँधेरे में घोड़ों की पीठें हिल-डुल रही थीं। सामने की ओर दूर तक फैली स्तेपी थी और बहुत दूरी पर थे जगमगाते हुए सितारे।

मैं तो अपने इसी काम में पूरी तरह उलझ-डूब गया था। मुझे तो किसी की आवाज़ तक भी सुनाई न दी। जब किसी ने बहुत ही पास आकर मुझे पुकारा तो मैं चौंका—

"क्या बहरे हो गये हो?"

यह जमीला थी। मैं घबराकर झेंप गया। मगर रेखाचित्र झटपट न छिपा पाया।

"ठेले लद चुके हैं और हम एक घण्टे से तुम्हें पुकार रहे हैं! तुम यहाँ क्या कर रहे हो? यह क्या है?" रेखाचित्र उठाते हुए उसने पूछा। "हूँ!" उसने ग़ुस्से से कन्धे झटके।

काश मेरा जनाज़ा निकल गया होता! वह उस रेखाचित्र को देर तक, बहुत देर तक देखती रही। आखिर उसने अपनी उदास और नम आँखें ऊपर उठाईं।

"किचिने-बाला, यह मुझे दे दो... यह तस्वीर मेरे पास यादगार बनकर रहेगी..." उसने धीरे से कहा। उसने

उस काग़ज़ को तह किया और अपने ब्लाउज़ में छिपा लिया।

हम सड़क पर आ चुके थे। मगर मैं अभी तक अपनी कल्पना की दुनिया में उड़ानें भर रहा था। सब कुछ मुझे सपने जैसा लग रहा था। जो चित्र मेरी आँखों के सामने उभरा था मैंने उसे वैसे ही काग़ज़ पर उतारा है, इसका मुझे विश्वास न हो रहा था। फिर भी मुझे अपने दिल की गहराई से सफलता की आवाज़ सुनाई दी। इतना ही नहीं मुझे अपने पर गर्व भी अनुभव हुआ। अब एक के बाद एक सजीव, एक के बाद एक सुन्दर सपना मेरी आँखों के सामने नाचने लगा। इन्हीं सपनों के कारण मेरा सिर घूमने लगा। मैं अब बहुत-सी तस्वीरें बनाना चाहता था। मैं पेंसिल के रेखाचित्र नहीं, रंगों के रंग-बिरंगे चित्र बनाने के सपने देखने लगा। ठेलों की तेज़ रफ़्तार की तरफ़ मैंने बिल्कुल ध्यान न दिया। दनियार अपने घोड़ों को ताबड़-तोड़ भगाये जा रहा था। जमीला भी साथ दे रही थी। वह इधर-उधर देखती हुई कभी जान-बूझकर हृदय को छूती हुई मुस्करा देती थी। ज़ाहिर है कि अब वह हमसे नाराज़ न थी। और अगर वह दनियार से कहती तो उस शाम फिर उसके कण्ठ से संगीत फूट पड़ता।

उस दिन हम मामूल से कहीं पहले स्टेशन पर पहुँच गये। हाँ हमारे घोड़े तो जरूर मुँह से झाग निकाल रहे थे। हमने ठेले खड़े किये कि दनियार फटाफट बोरियाँ उतारने लगा। आख़िर आज उसे हुआ क्या है? ऐसी क्या हड़बड़ी है इसे?

बीच-बीच में वह रुकता और पास से गुज़रनेवाली धड़धड़ाती हुई रेल-गाड़ी को देर तक खड़ा देखता रहता। उसकी आँखों में सोच की गहरी झलक दिखाई देती। जमीला उसकी नज़र ताड़ती। वह उसके मन की थाह पाने का प्रयत्न करती।

"इधर तो आना! यह घोड़े का नाल ढीला हो गया है। उसे निकाल फेंकने में ज़रा मेरी मदद तो करो," जमीला ने दनियार को पुकारा।

दनियार ने घोड़े का सुम अपने घुटनों के बीच थामा और नाल उतार दिया। जैसे ही वह सीधा खड़ा हुआ कि जमीला ने उसकी आँखों में आँखें डालकर धीरे-से कहा –

"आख़िर मामला क्या है? तुम सारी स्थिति को समझने की कोशिश क्यों नहीं करते? या यह कि दुनिया में सिर्फ़ मैं ही एक लड़की रह गयी हूँ?"

दनियार ने मुँह फेर लिया और कुछ भी जवाब न दिया।

"तुम क्या समझते हो कि मेरे दिल पर कुछ नहीं बीत रही है?" जमीला ने गहरी साँस ली।

दनियार की भौंहें सिकुड़ीं। उसने प्यार और उदासी से जमीला की तरफ़ देखा और बहुत धीरे से कुछ जवाब दिया। मैं उसके शब्द न सुन सका। फिर वह जल्दी से अपने ठेले की तरफ़ चला गया। अब वह कुछ-कुछ खुश दिखाई दे रहा था। ठेले की तरफ़ लौटते हुए वह नाल पर हाथ फेर रहा था। जमीला के शब्दों से उसे क्या सान्त्वना मिली

होगी ? "मेरे दिल पर क्या कुछ नहीं बीत रही है ?" इतना कह देने और गहरी साँस लेने से क्या किसी को सान्त्वना मिल भी सकती है ?

हम बोरियाँ उतारकर जाने के लिए तैयार ही थे कि वहाँ एक घायल और दुबला-पतला फ़ौजी नज़र आया। उसके ग्रेटकोट पर बुरी तरह सिलवटें पड़ी हुई थीं और उसके कन्धे से एक थैला लटक रहा था। कुछ ही मिनट पहले एक रेल-गाड़ी स्टेशन पर रुकी थी। फ़ौजी ने इधर-उधर नज़र दौड़ाई और फिर चिल्लाया—

"यहाँ कोई कुरकुरेव का रहनेवाला है ?"

"मैं हूँ !" मैंने जवाब दिया। मैं सोच रहा था कि जाने यह कौन है।

"किसके लड़के हो ?" मेरी तरफ़ आते हुए फ़ौजी ने पूछा। सहसा उसे जमीला दिखाई पड़ गयी। उसके चेहरे पर हैरानी और ख़ुशी की लहर दौड़ गयी।

"करीम ? तुम हो ?" जमीला चिल्लायी।

"मेरी प्यारी जमीला !" वह भी चिल्लाया और उसने जमीला का हाथ अपने हाथ में लेकर ज़ोर से दबाया।

वह जमीला के ही गाँव का था।

"क्या ख़ुशक़िस्मती है ! यक़ीनन यह मेरी ख़ुशक़िस्मती है कि यहाँ चला आया !" उसने बड़े जोश के साथ कहा। "मैं सीधे सादिक़ के पास से ही आ रहा हूँ। हम अस्पताल में इकट्ठे ही थे। अल्लाह की मेहर रही तो महीने—दो महीने तक वह भी भला चंगा हो जायेगा। चलते-चलते मैंने उसे तुम्हारे नाम पत्र लिखने के लिए कहा। मैंने उससे वायदा किया था कि उसका ख़त तुम्हें पहुँचा भी दूँगा। तो लो यह सम्भालो। उसके दस्तख़त और मुहर पहचान लो।" करीम ने जमीला को एक तिकोना लिफ़ाफ़ा सौंप दिया।

जमीला ने वह ख़त झपट लिया, वह शर्माई और फिर उसका रंग सफ़ेद पड़ गया। बड़ी सावधानी से उसने कनखियों से दनियार की तरफ़ देखा। वह ठेले के पास खड़ा था। कुछ दिन पहले खलियान में दनियार की जो हालत थी, वही आज भी थी। वह लुटा-लुटा-सा ठेले के पास अकेला खड़ा था। वह टकटकी बाँधकर जमीला को देख रहा था। उसकी आँखों में गहरी निराशा थी।

इसी बीच सभी ओर से लोग जमा होने लगे। भीड़ में फ़ौजी के कई मित्र और सम्बन्धी निकल आये। चारों ओर से सवालों की बौछार होने लगी। जमीला उस पत्र के लिए धन्यवाद भी न दे पायी कि दनियार का ठेला खड़खड़ाता हुआ चल दिया। वह धूल का बादल उड़ाता हुआ तेज़ी से अहाते में से गुज़रा और गड्ढेदार सड़क पर डोलता, धचके खाता आगे बढ़ गया।

"ज़रूर कोई सनकी है !" लोग चिल्लाये।

फ़ौजी तो लोगों की भीड़ के साथ-साथ कुछ क़दम आगे चला गया। मैं और जमीला अहाते के बीच खड़े हुए, तेज़ी से ग़ायब होते हुए धूल के बादल को देखते रहे।

"आओ चलें, जेने," मैंने कहा।

"तुम जाओ। मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो!" जमीला ने चिढ़कर कहा।

इस तरह पहली बार हम अलग-अलग वापस आये। दम घोटनेवाली गर्मी मेरे झुलसे हुए होंठों को जला रही थी। जगह-जगह से फटी और झुलसी हुई धरती दिन-भर की गर्मी में तपतपकर सफ़ेद हो गयी थी। अब वह ठण्डी हो रही थी और उसपर नमक जैसी सफ़ेद-सफ़ेद परतें उभरने लगी थीं। हिलता-डुलता और बेढंगा-सा सूरज सफ़ेद-सफ़ेद धुंध के बीच से चमक रहा था। धुंधले-धुंधले क्षितिज पर आँधी तूफ़ान के नारंगी-लाल बादल जमा हो रहे थे। ख़ुश्क हवा के ज़ोरदार झोंके आ रहे थे। ये घोड़ों की थूथनियों को सफ़ेद धूल से ढक देते थे और उनके अयाल पीछे की तरफ़ उड़ाते हुए आगे निकल जाते थे। हवा के ये झोंके टीलों पर उगे हुए चिरायते के पौधों में लहरें पैदा कर रहे थे।

"शायद आज बरसात हो?" मैंने सोचा।

मैं बहुत बेचैनी और बेहद अकेलापन महसूस कर रहा था। घोड़े बार-बार क़दम-क़दम चलने लगते थे। मैं बार-बार उनपर चाबुक बरसा रहा था। लम्बी-लम्बी टाँगोंवाली हड़ीली बस्टर्ड-चिड़ियाँ खड्ड में हवा से बातें करने लगीं। सड़क पर सूखे-मुरझाये बुर्दोक के पत्ते उड़ते फिर रहे थे। बुर्दोक के पौधे हमारी धरती पर नहीं उगते हैं। ये पत्ते क़ज़ाख़स्तान की तरफ़ से आये थे। सूरज डूब गया। कहीं

कोई परिन्दा तक भी न था। दिखाई दे रही थी तो सिर्फ़ गर्मी से परेशान स्तेपी।

मैं खलियान में पहुँचा तो अँधेरा हो चुका था। हवा निश्चल और दम साधे थी। मैंने दनियार को पुकारा।

"वह तो नदी पर गया है," चौकीदार ने जवाब दिया। "बड़ी उमस हो रही है। सभी लोग घरों को चले गये हैं। हवा न हो तो खलियान में किसी को लेना-देना ही क्या है!"

मैं घोड़ों को चरागाह में ले गया। मैंने नदी पर जाने का फ़ैसला किया। मैं चोटी के क़रीब दनियार की मनपसन्द जगह से परिचित था।

वह वहाँ सिमटा-सिमटाया-सा बैठा था। उसने अपना सिर घुटनों पर टिकाया हुआ था। वह नीचे तेज़ी से बहते पानी का कल-छल संगीत सुन रहा था। मेरा मन हुलसा कि मैं उसके पास जाऊँ, उसके गिर्द बाँहें डाल दूँ और दिलासे के दो-चार शब्द कहूँ। मगर मैं कह ही क्या सकता था? मैं एक तरफ़ खड़ा रहा, खड़ा रहा और आख़िर लौट आया। फिर मैं देर तक घास पर लेटा-लेटा बादलों से ढके आकाश को ताकता रहा। मैं सोचता रहा कि आख़िर ज़िन्दगी इतनी उलझी हुई क्यों है, इसे समझ पाना इतना मुश्किल क्यों है?

जमीला अभी तक न लौटी थी। जाने वह कहाँ और किस हाल में है? मैं थककर चूर-चूर था, फिर भी मेरी

ग्राँखों से नींद ग़ायब थी। तभी दूर पहाड़ों पर बादलों के छोरों में बिजली कौंधी।

दनियार के खलियान में लौटने तक मैं जाग रहा था। वह बेकार ही, बिना किसी उद्देश्य के, इधर-उधर घूम रहा था। उसकी नज़र सड़क पर जमी थी। फिर वह क़रीब ही सूखी घास के ढेर पर ढह पड़ा। मुझे यक़ीन हो गया था कि वह ग्रब हमारे गाँव में हरगिज़-हरगिज़ नहीं रहेगा, ज़रूर ही चला जायेगा! मगर कहाँ? वह जा ही कहाँ सकता है? ग्रकेली जान, न घर न घाट! न कोई ग्रागे, न पीछे। कोई भी तो उसकी बाट नहीं जोह रहा है। मैं नींद की प्यारी गोद में जा ही रहा था कि पास ग्राते ठेले की खड़खड़ाहट मेरे कानों तक पहुँची। शायद जमीला लौट रही थी...

न जाने मैं कितनी देर सोया कि मेरे पास ही सूखी घास सरसरायी। कोई नज़दीक से गुज़रा, गीले छोर ने जैसे कि मेरा कन्धा छुग्रा। मैंने ग्राँखें खोलीं। वह जमीला थी। वह नदी से लौटी थी। उसकी पोशाक ठण्डी ग्रौर नम थी। वह ठिठकी, बेचैनी से उसने इधर-उधर देखा ग्रौर फिर दनियार के पास जा बैठी।

"दनियार, मैं ग्रा गयी हूँ। मैं ख़ुद ही तुम्हारे पास ग्रा गयी हूँ, दनियार," जमीला ने धीरे से कहा।

चारों तरफ़ गहरा सन्नाटा था। कहीं एक कोने में बिजली चमकी, उसने गुप-चुप धरती को चूमा।

"तुम नाराज़ हो? बहुत नाराज़ हो क्या?"

फिर एकदम ख़ामोशी छा गयी। फिर कोई कगारा

टूटकर पानी में गिरा। छपाक की हल्की-सी ग्रावाज़ हुई।

"इसके लिए क्या मैं ज़िम्मेदार हूँ? इसके लिए तुम भी ज़िम्मेदार नहीं हो..."

पहाड़ों पर ज़ोर की गड़गड़ाहट हुई ग्रौर दूर तक फैल गयी। फिर बिजली कौंधी ग्रौर उसकी रोशनी में जमीला सिर से पाँव तक जगमगा उठी। वह दनियार से सटी हुई थी। दनियार के बाहु-पाश में ग्राती-जाती साँसों के साथ-साथ उसके कन्धे उठ-गिर रहे थे। फिर वह भूसे पर दनियार के साथ ही लेट गयी।

स्तेपी की ग्रोर से गर्म हवा का झोंका ग्राया। गर्म हवा ने भूसे को इधर-उधर उड़ाया, वह खलियान के सिरे पर खड़े ख़स्ताहाल तम्बू से टकरायी ग्रौर एक सनकी जनूनी की तरह चक्कर काटती, घूमती हुई सड़क से नीचे की तरफ़ चली गयी। फिर ज़ोर की गड़गड़ाहट हुई ग्रौर बादलों का तन बेधती हुई बिजलियाँ चमक उठीं। इस गड़गड़ाहट से दिल दहला भी ग्रौर ख़ुशी भी हुई—तूफ़ान ग्रा रहा था! गर्मी का ग्राख़िरी तूफ़ान।

"तुमने सोचा होगा कि तुमसे वह मेरे मन के ज्यादा क़रीब है?" जमीला भावावेश में फुसफुसायी। "कभी नहीं! हरगिज़ नहीं! मुझे कभी उससे प्यार नहीं मिला। पत्र में भी वह तो बस ग्रन्त में योंही नमस्कार घसीट देता था। मुझे उसकी ज़रूरत नहीं है। बहुत देर से मिलनेवाले उसके प्यार की भी ज़रूरत नहीं है। लोग क्या कहेंगे, इसकी भी

मुझे क़तई परवाह नहीं है। मेरे एकाकी, नितान्त एकाकी साजन, मैं अब किसी तरह भी तुम्हें अपने से जुदा न होने दूँगी। एक अर्से से तुम्हें अपने मन में बसाये हूँ, तुम्हारा प्यार संजोये हूँ। तुमसे कोई जान-पहचान न थी, तुम यहाँ आये भी न थे मगर मैं तो तब भी तुम्हें प्यार करती थी। तुम शायद जानते थे कि मैं तुम्हारी राह में आँखें बिछाये बैठी हूँ, इसलिए तुम खिंचे चले आये!"

पहाड़ी के क़रीब चकाचौंध करती हुई हल्की-नीली टेढ़ी-मेढ़ी बिजलियाँ नदी में कूदीं। बरखा की आड़ी-तिरछी ठण्डी-ठण्डी बूँदें भूसे पर पटापट ताल देने लगीं।

"जमीला, मेरी प्यारी जमीला!" दनियार फुसफुसाया। वह उसे प्यारे से प्यारे क़ज़ाख़ और क़िर्गीज़ नामों से पुकार रहा था। "मैं भी तुम्हें एक ज़माने से सीने में छिपाये फिर रहा हूँ। खन्दकों में भी मैं तुम्हारे ही सपने देखता था। मैं जानता था कि मेरे दिल की रानी, मेरी अपनी जन्मभूमि में है। वह तुम ही थीं, तुम्हीं मेरी रानी जमीला!"

"मेरी तरफ़ मुँह करो। मुझे अपनी आँखों में झाँकने दो!"

तूफ़ान ने हमें आ लिया था।

तम्बू की छत नमदे की थी। अब उसका एक सिरा खुल गया था और वह एक घायल पंछी की तरह फड़फड़ा रहा था। तेज़ हवा के झोंके बरसते पानी पर नीचे की तरफ़ से कोड़े बरसा रहे थे। पानी, धार बाँधकर ज़ोरों से बरस रहा था और मानो धरती को चूम रहा था।

आकाश में रह-रहकर ज़ोरों की गरज और गड़गड़ाहट होती थी और वह तूदों की तरह इधर-उधर घूमती-डोलती लगती थी। पहाड़ चकाचौंध करती बिजली में चमक-चमक उठते थे। खड्डों-खाइयों में कूदती-फाँदती हवा साँय-साँय, भाँय-भाँय कर रही थी।

मूसलाधार बारिश हो रही थी। मैं भूसे में दुबककर लेटा हुआ था। मेरा दिल नाच रहा था। मैं ख़ुश था। मुझे लग रहा था कि जैसे मैं किसी लम्बी बीमारी के बाद पहली बार खुले में, प्यारी-प्यारी धूप में आया हूँ। बरखा के छींटे और बिजली की चमक, दोनों ही मेरे पास भूसे में पहुँच रहे थे। मगर मैं सुख-सन्तोष अनुभव कर रहा था। मैं मुस्कराता हुआ नींद की थपकियों का मज़ा लेने लगा। मेरे कानों में कुछ धीमी-धीमी आवाज़ आ रही थी। वह धीमी पड़ती हुई बरखा की आवाज़ थी या दनियार और जमीला की खुसुर-फुसुर, मेरे लिए यह कहना मुश्किल है।

बरसात का मौसम शुरू होने ही वाला था। कुछ ही दिनों बाद पतझर आ जायेगी। हवा में पतझर के दिनों जैसी चिरायते और भीगे भूसे की सीली-सीली कुछ गन्ध थी भी। पतझर में क्या होनेवाला है? न जाने क्यों, मगर उन दिनों मैंने इस प्रश्न पर माथापच्ची न की।

दो साल के वक़्फ़े के बाद मैं उसी पतझर में, फिर से स्कूल गया। पढ़ाई के बाद मैं अक्सर ढालू नदी तट पर आता और अब वीरान-सुनसान पड़े खलियान की बग़ल में

जा बैठता। यहीं मैंने शुरू-शुरू के चित्र बनाये। मुझे याद है कि उन दिनों भी मुझे अपने चित्रों से असन्तोष ही रहता था।

"ये रंग तो कौड़ी काम के नहीं हैं! काश कि कहीं असली रंग मिल जायें!" मैं हमेशा यही सोचता। "असली रंग" होते कैसे हैं, मैं तो यह भी न जानता था। बहुत दिनों बाद ही छोटी-छोटी नलियों में बन्द असली रंगों से मेरी जान-पहचान हुई।

कारण तो चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो, बात मेरे अध्यापकों की ही ठीक निकली। मुझे किसी उस्ताद की ज़रूरत थी। मगर मेरे लिए यह चीज़ एक सपने के समान थी। मेरे भाइयों की अभी तक कुछ खबर-सार न मिली थी। मेरी माँ अपने इकलौते बेटे, अपने "जीगित और दो कुनबों के अन्नदाता" को दूसरी जगह जाने की इजाज़त भला कैसे दे सकती थी! मैं तो यह बात छेड़ने तक की जुर्रत न कर सकता था। मेरे लिए मेरी यही मजबूरी कुछ कम परेशानी का कारण न थी। इसके साथ-साथ पतझर ने भी जैसे घाव पर नमक छिड़का। उस साल तो वह कमबख्त भी खूब ही बन-संवरकर आयी। वह तो जैसे कि पुकार-पुकारकर कह रही थी – "उठाओ तूलिका!"

ठण्डी बर्फ़ीली कुरकुरेव सिमट गयी थी, छिछली हो गयी थी। प्रपातों के सिरों के पत्थरों पर गहरी हरी और नारंगी काई छा गयी थी। सरकट के कमज़ोर और पातहीन ठूँठ शुरू-शुरू के पाले में लाल दिखाई दे रहे थे। मगर छोटे-

छोटे पोपलार अपने मज़बूत, नन्हे-नन्हे पीले पत्तों को अभी तक अपनी शाखों से चिपकाये हुए थे।

बाढ़ों की लपेट में आनेवाले चरागाह की लाल-लाल घास में कुछ काले-काले धब्बे दिखाई दे रहे थे। ये धुएँ से काले पड़े और बरसात में बुरी तरह तर-ब-तर हुए तम्बू थे, चरवाहों के तम्बू। इन तम्बुओं के धुएँ के सूराखों के ऊपर कड़वे और नीले धुएँ के साँप से चक्कर काट रहे थे। दुबले-पतले घोड़े ज़ोरों से हिनहिना रहे थे। घोड़ियाँ दूर-दूर खिसकती जा रही थीं। वसन्तागमन तक उन्हें झुण्ड में रखना टेढ़ा काम था। कुछ रेवड़ पहाड़ों से नीचे उतर आये थे। भेड़ें ठूँठों और जड़ों पर मुँह मारती फिर रही थीं। बुरी तरह रौंदी गयी पगडण्डियों के कारण खुश्क, काली पड़ी स्तेपी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं का जाल-सा बनकर रह गयी थी।

कुछ ही दिनों बाद स्तेपी की हवा चलने लगी। आकाश मटमैला और धूल-धूसरित हो उठा। बर्फ़ जैसा ठण्डा पानी बरसने लगा। इस पानी ने धो पोंछकर हिमकणों के लिए धरती तैयार की। एक सुहाने दिन मैं नदी पर गया। रेत के एक टीले पर उगे हुए पहाड़ी एश की दहकती-सी झाड़ी ने मुझे बरबस अपनी तरफ़ खींच लिया था। मैं सरकट के झुरमुटों के बीच जा बैठा। शाम घिर रही थी। अचानक दो इन्सानों पर मेरी नज़र जा पड़ी। उन्होंने शायद छिछला पाट पार किया था। वे थे दनियार और जमीला। मेरी नज़र तो उन्हीं पर जमकर रह गयी। चिन्ता के साथ-साथ उनके चेहरे पर दृढ़ता की झलक थी। दनियार अपने कन्धे

से एक थैला लटकाये था। वह जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ा रहा था। उसके खुले हुए ग्रेटकोट की पेटियाँ उसके फटे-फटाये तिरपाल के बूटों के सिरों को छू रही थीं। जमीला सिर पर सफ़ेद रूमाल बाँधे थी जो पीछे की तरफ़ कुछ खिसक गया था। जमीला बेहतरीन छापेदार पोशाक पहने थी। मेलों त्योहारों के वक़्त ही वह इसकी नुमाइश करती थी। इस पोशाक के ऊपर से वह मख़मली कुरती पहने थी। उसके एक हाथ में छोटा-सा बण्डल था और दूसरा हाथ दनियार के थैले के पट्टे पर था। वे कुछ बातचीत कर रहे थे।

वे खड्ड पार कर, कँटीली घास के झुरमुट में से जानेवाली पगडण्डी पर जा रहे थे। मैं उन्हें एकटक देख रहा था। क्या करूँ, मेरी समझ में यह बात न आ रही थी। क्या मैं उन्हें पुकारूँ? मगर आवाज़ मेरे गले में अटककर ही रह गयी।

पहाड़ों के ऊपर बादल तेज़ी से चल रहे थे। डूबते सूरज की आख़िरी नारंगी किरणें इन बादलों के बीच से तैर-सी गयीं। अचानक अँधेरे ने अपना हाथ बढ़ाना शुरू किया। वे दोनों स्टेशन की उलटी दिशा में बढ़े जा रहे थे। उन्होंने एक बार भी पीछे मुड़कर न देखा। झुरमुट में से उनके सिर एक-दो बार नज़र आये और फिर पूरी तरह ग़ायब हो गये।

"जमीला-आ-आ-आ!" मैं गला फाड़कर चिल्लाया।

"अया-आ-आ!" मेरी मजबूर बेबस आवाज़ गूँजकर मेरे पास ही लौट आयी।

"जमीला-आ-आ-आ!" मैं फिर चिल्लाया और एक पागल की तरह नदी के उस पार उनके पीछे भाग चला।

बर्फ़ जैसे ठण्डे पानी के छींटे मेरे चेहरे से टकरा रहे थे। मेरे कपड़े पानी से तर-ब-तर हो गये, मगर मैं भागता रहा। पाँव तले की धरती पर तो मेरी नज़र टिक ही न पा रही थी। मैंने ठोकर खाई और गिर पड़ा। मैं औंधे मुँह गिरा और ज्यों का त्यों पड़ा रहा। गर्म-गर्म आँसुओं की धार मेरा मुँह धोती रही। मेरे ऊपर अँधेरा गहरा आया। कँटीली घास के पतले-पतले तने कोई दर्दीला गीत अलापते रहे।

"जमीला! जमीला!" मैं सिसकने लगा।

ये दोनों ही तो मेरे दिल के निकटतम थे, यही तो मुझे सबसे अधिक प्यारे थे। मैं इन्हें ही अलविदा कह रहा था। मैं धरती पर पड़ा सिसक रहा था। सहसा मुझे अनुभव हुआ कि मैं जमीला से प्यार करता हूँ। हाँ, मैं उसे प्यार करता था। वह मेरा प्रथम प्रणय, मेरा पहला प्यार, मेरे बचपन का प्यार था।

आँसू-भीगी बाँहों में सिर धँसाये हुए मैं देर तक वहीं पड़ा रहा। जमीला और दनियार को ही नहीं, मैं किसी और चीज़ को भी अलविदा कह रहा था – अपने भोले बचपन को भी।

आख़िर मैं रात के वक़्त गिरता पड़ता घर पहुँचा। अहाते में लोगों की भारी भीड़ दिखाई दी। रकाबें खनखना रही थीं, लोग अपने ज़ीन साध रहे थे। शराब के नशे में

धुत्त ऊसमान इधर-उधर अपना घोड़ा नचाता हुआ गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा था –

"हमें उस ख़ानाबदोश कुत्ते को एक ज़माने पहले ही गाँव से निकाल बाहर करना चाहिये था! यह हमारे समूचे ख़ानदान की इज़्ज़त पर बट्टा लग गया है! कभी अगर वह मेरे सामने आ गया तो वहीं उसका काम तमाम कर डालूँगा! इसके लिए अगर मुझे ख़ुद भी फाँसी चढ़ना पड़ा तो भी कुछ परवाह नहीं। हर ऐरा-ग़ैरा हमारी औरतों पर हाथ साफ़ कर जाये, यह मैं हरगिज़ न होने दूंगा! चलो जीगितो! वह बचकर जायेगा कहाँ। हम उसे स्टेशन पर ही घर लेंगे!"

मेरा तो दम निकल गया। जाने ये कौनसी सड़क से जायेंगे? मेरे दिल ने गवाही दी कि वे बड़ी सड़क से ही स्टेशन पर गये हैं। मैंने इत्मीनान की साँस ली और चुपके से घर के अन्दर जा घुसा। मैंने पिता का भेड़ की खाल का कोट अपने चारों ओर लपेटा और सिर को अच्छी तरह ढक लिया। मैं यह नहीं चाहता था कि कोई मेरे आँसू देखे।

इसके बाद तो गाँव-भर में जमीला की ख़ूब ही चर्चा हुई। लोगों ने जी भरकर इधर-उधर की हाँकी, बेपर की उड़ायी। औरतों में तो जैसे होड़ ही हो गयी। जमीला को कोसने और भला-बुरा कहने में वे एक दूसरी से बाज़ी मारने की सिर तोड़ कोशिश करने लगीं –

"वह तो बिल्कुल सिरफिरी है। ऐसा अच्छा ख़ानदान छोड़कर उसने अपनी क़िस्मत को ठोकर मार दी है!"

"मेरी समझ में तो यही नहीं आता कि उसे उसमें नज़र ही क्या आया?"

"मेरी बात लिख लो, कुछ ही दिनों में उसका नशा उतर जायेगा और अक़्ल ठिकाने आ जायेगी। मगर तब तो वह बस हाथ मल-मल के पछताती ही रह जायेगी।"

"यही तो मैं कहती हूँ! सादिक़ में आख़िर किस चीज़ की कमी है? अच्छा ख़सम नहीं है या कमाऊ नहीं है? अरे, वह तो गाँव का सबसे अच्छा जीगित है!"

"और सास? किसी ख़ुशनसीब को ही ऐसी सास मिलती है! ऐसी बाईबच्चे पाने के लिए तो चिराग़ लेकर खोज करनी पड़ती है। बेवक़ूफ़ ने यों ही बैठे-बिठाये अपनी ज़िन्दगी बरबाद कर डाली है!"

जमीला – मेरी कुछ दिन पहले तक की जेने – के बारे में भला-बुरा न कहनेवाला शायद सिर्फ़ मैं ही एक आदमी था। अकेला मैं ही यह जानता था कि दनियार की आत्मा में जो बेशक़ीमत हीरे मोती छिपे पड़े हैं वे हममें से किसी के पास नहीं हैं। मैं यह विश्वास करने को तैयार न था कि जमीला दनियार के साथ दुखी रहेगी। मगर अपनी माँ के लिए मेरा मन ज़रूर दुखता। जमीला क्या गयी कि जैसे उसकी कमर ही टूट गयी। उसमें वह पहले का सा कस-बल ही बाक़ी न रहा। वह बड़ी लुटी-लुटी थकी-थकी-सी दिखाई देने लगी। मैं आज अपनी माँ की परेशानी का राज़ समझ

पा रहा हूँ। क़िस्मत का एक झटका ही सारे बने-बनाये ताने-बाने को तार-तार कर सकता है। वह किसी तरह भी यह बात अपने गले से नीचे उतारने को तैयार न थी। किसी फूले-फले पेड़ को अगर तूफ़ान जड़ से ही उखाड़ फेंके तो वह फिर कभी नहीं उठ पाता। कभी मेरी माँ में इतना गर्व था कि किसी से सुई में धागा डाल देने के लिए कहना भी अपनी बेइज़्ज़ती समझती थी। मगर अब, जब मैं एक दिन स्कूल से लौटा तो देखा कि उसके हाथ काँप रहे हैं। सुई की नोक उसे नज़र न आ रही थी और उसकी आँखों से आँसू झर रहे थे।

"लो, ज़रा धागा तो डाल दो," उसने मुझसे कहा और गहरी साँस ली। "जमीला का अन्त अच्छा न होगा... आह, वह कैसी बढ़िया गृहिणी बनती! मगर वह तो चली गयी... हमें छोड़कर चली गयी... पर वह गयी क्यों? क्या यहाँ वह कुछ बहुत ही बुरी रह रही थी?"

मेरा मन हुआ कि माँ को बाँहों में भर लूं, और उसे दिलासा दूँ। उसे समझाऊँ कि गुदड़ी में छिपा हुआ दनियार वास्तव में क़ीमती लाल था। मगर मेरी हिम्मत न हुई। यह कहकर तो मैंने उल्टे उसी को बुरी तरह नीचा दिखाया होता।

इस सारे नाटक में मैंने भी एक मासूम-सी भूमिका अदा की थी। कुछ अर्से तक यह बात राज़ बनी रही, मगर फिर एक दिन तो भण्डा फूट ही गया...

जल्द ही सादिक़ घर लौट आया। ज़ाहिर है कि उसे तो दुख होना ही था, हुआ भी। वैसे नशे में झूमते हुए उसने ऊसमान से कहा—

"अच्छा ही हुआ, बला टली! वह तो कहीं सड़क किनारे ही दम तोड़कर पड़ी-सड़ती रहेगी। काफ़ी औरतें हैं रंगरलियाँ मनाने के लिए! औरों की तो ख़ैर बात ही क्या, किसी सुनहरे बालोंवाली को भी मैं तो किसी लुंजपुंज मर्द-बच्चे के क़ाबिल नहीं समझता हूँ।"

"सोलह आने सही है!" ऊसमान ने जवाब दिया। "मुझे तो सिर्फ़ इसी बात का रंज है कि वह बदमाश मेरे हत्थे नहीं चढ़ा। वरना मैं तो वहीं उसकी गर्दन मरोड़ देता। और उसके बाल तो मैं अपने घोड़े की दुम के साथ बाँध देता! वे शायद दक्षिण में, कपास के फ़ार्मों की तरफ़ या फिर क़ज़ाखस्तान में चले गये हैं, जहां-तहाँ भटकना दनियार के लिए कोई नयी बात तो है नहीं! मगर मेरे दिमाग़ में तो यही बात नहीं घुस पा रही है—यह सब हुआ कैसे? किसी को कानों-कान भी तो ख़बर न हुई। कौन भला सपने में भी यह सोच सकता था? उस कुतिया ने यह सारी हेरा-फेरी अपने-आप ही कर डाली! काश कहीं एक बार वह मेरे क़ाबू आ जाये!"

मेरा मन हुआ कि कहूँ—"वहाँ खेत में तुम्हें जो मुँह की खानी पड़ी थी तुम तो उसे कभी न भूल सकोगे। कैसी छोटी और कमीनी है तुम्हारी आत्मा!"

एक दिन मैं घर पर बैठा हुआ स्कूल के दीवार-समाचारपत्र के लिए एक तस्वीर बना रहा था। मेरी माँ अंगीठी से मत्थापच्ची कर रही थी। अचानक सादिक़ झपटता हुआ कमरे में आया। उसके चेहरे का रंग फक था। तेज़ी से मेरी ओर बढ़ता हुआ वह ग़ुस्से से आँखें मिचमिचा रहा था। उसने एक काग़ज़ मेरे सामने दे मारा।

"यह चित्र तुमने बनाया?"

मुझे तो साँप सूँघ गया। यह मेरा पहला रेखाचित्र था। काग़ज़ के उस टुकड़े से मेरी ओर देखते हुए दनियार और जमीला बिल्कुल सजीव लग रहे थे।

"हाँ।"

"यह कौन है?" काग़ज़ को मेरी तरफ़ बढ़ाते हुए उसने पूछा।

"दनियार।"

"ग़द्दार!" सादिक़ चीख उठा। उसने तस्वीर के टुकड़े-टुकड़े कर डाले और ज़ोर से पाँव पटकता हुआ बाहर चला गया। जाते-जाते उसने खटाक से दरवाज़ा बन्द किया।

लम्बी और निराशाभरी चुप्पी के बाद मेरी माँ ने पूछा –

"तुम्हें क्या सब कुछ मालूम था?"

"हाँ।"

वह अंगीठी का सहारा लेकर खड़ी थी। उसकी आँखों में गहरी निराशा और तिरस्कार की झलक थी। तभी मैंने कहा – "मैं फिर से उनका चित्र बनाऊँगा!" माँ उदासी से सिर हिलाकर रह गयी।

मैंने फ़र्श पर पड़े काग़ज़ के टुकड़ों की तरफ़ देखा। मेरे दिल को गहरी चोट लगी। मुझे महसूस हुआ कि जैसे मेरा दम घुट रहा है। ये लोग मुझे ग़द्दार समझते हैं, मेरी बला से। किससे मैंने ग़द्दारी की है? अपने ख़ानदान से? अपने रिश्तेदारों से? मगर मैंने सचाई से, हक़ीक़त से, उन दोनों की सचाई से तो ग़द्दारी नहीं की है! मैं यह सब कुछ कह न सकता था। कारण कि मेरी अपनी माँ भी मेरे मन की बात न समझ सकती थी।

मेरी आँखों के सामने हर चीज़ घूमने-सी लगी। मुझे लगा कि काग़ज़ के वे टुकड़े सजीव हैं, कि वे फ़र्श पर हिल-डुल रहे हैं। काग़ज़ के टुकड़ों से अपनी ओर देखते हुए दनियार और जमीला की स्मृति में मैं कुछ ऐसे डूब-खो गया कि मेरे कानों में दनियार का गीत गूँज उठा। वही गीत जो उसने अगस्त की उस चिरस्मरणीय रात में गाया था। फिर मेरी आँखों के सामने उनके गाँव छोड़ते समय का चित्र उभरा। मेरे पैर बेतहाशा मचलने लगे। बरबस कोई तूफ़ानी चाह मुझे सड़क की तरफ़ धकेलने लगी। हाँ, मैं भी उन्हीं की तरह अपनी मंज़िल की तरफ़ बढ़ूँगा – दृढ़ता से, हिम्मत से। मैं ख़ुशी से कँटीले मार्ग पर बढ़ूँगा, बढ़ूँगा।

"मैं पढ़ाई के लिए जाना चाहता हूँ... पिता जी से ज़िक्र कर देना कि मैं चित्रकार बनना चाहता हूँ।" मैंने माँ से कहा।

मुझे यक़ीन था कि वह मुझे कोसने लगेगी, आँखें भर लायेगी। लड़ाई में काम आनेवाले मेरे भाइयों की दुहाई देगी। मगर जब ऐसा कुछ न हुआ तो मैं हैरान ही रह गया। माँ ने धीरे से उदास होकर कहा—

"अगर तुम्हें यही पसन्द है तो ठीक है... अब तुम सब बड़े हो गये हो, सभी बच्चों के पंख निकल आये हैं... तुम जहाँ और जिधर भी चाहो उड़ान भर सकते हो... तुम्हारे पंखों में कितनी ऊँची उड़ान भरने की शक्ति है, यह भला हम कैसे जान सकते हैं? शायद तुम ठीक ही रास्ता चुन रहे हो। ठीक है तो जाओ... शायद वहाँ जाकर तुम अपना इरादा बदल लो। पेंसिल से लकीरें खींचना या काग़ज़ रंगना-रंगाना यह कोई काम का धन्धा नहीं है... तुम पढ़-लिखकर ख़ुद ही यह जान लेना... और हमें भुला न देना..."

उसी दिन छोटा घर हमसे अलग हो गया। जल्द ही मैंने पढ़ाई के लिए घर छोड़ दिया।

बस, इतनी ही कहानी है।

चित्रकला-स्कूल का स्नातक होने के बाद अकादमी के लिए मेरी सिफ़ारिश की गयी। बरसों तक जो चित्र मेरे दिल-दिमाग़ पर छाया रहा था, वही मैंने डिप्लोमा पाने के लिए पेश किया।

यह चित्र क्या था, आप आसानी से इसका अनुमान लगा सकते हैं। यह जमीला और दनियार का ही चित्र था। पतझर के मौसम में वे स्तेपी को लांघते हुए सड़क की तरफ़

बढ़े जा रहे हैं। उनके सामने है फैला हुआ और उजला क्षितिज।

मेरा यह चित्र दोषहीन हो ऐसी बात नहीं है। आखिर हाथ तो मंजते-मंजते मंजता है। मगर तो भी यह मुझे बहुत प्यारा है। इसी में तो मेरी पहली सच्ची सृजनात्मक अनुभूति निहित है।

कभी-कभी मुझे अपने काम से असन्तोष होने लगता है। ऐसी मुश्किल घड़ियाँ भी आती हैं कि आत्मविश्वास साथ छोड़ता दिखाई देता है। ऐसे क्षणों में यही तस्वीर मेरा सहारा बनती है। मेरे लिए यही तस्वीर दुनिया की सबसे प्यारी चीज़ बन गयी है। मैं टकटकी बाँधकर देर तक उन्हें देखता रहता हूँ और हर बार यही पूछता हूँ—

"कहाँ हो तुम दोनों? कौनसी मंज़िलें तय कर रहे हो? क़ज़ाख़स्तान के पार स्तेपी में से गुज़रती हुई अब बहुत-सी नयी राहें बन गयी हैं। ये राहें साइबेरिया में से होती हुई आलताई तक जाती हैं। अनेकों बहादुर लोग वहाँ काम कर रहे हैं। शायद तुम भी वहीं हो? मेरी जमीला, तुम गयीं कि कभी मुड़कर भी नहीं देखा। शायद तुम थक गयी हो? शायद आत्मविश्वास तुम्हारा दामन छोड़ गया है? तुम दनियार का सहारा ले लो। उससे कहो कि वह तुम्हें सुनाये प्रेम, धरती और जीवन के रस में डूबा हुआ गीत! मैं कामना करता हूँ कि स्तेपी के कण कण में वही गीत झलक उठे। हर रंग और हर रूप में उस गीत का रस स्तेपी में फूटे, फूले-फले और महके! मेरी यही चाह है कि तुम्हें अगस्त

की वह रात हमेशा हमेशा याद रहे! तुम अपनी राह पर बढ़ती जाओ, जमीला! जो कुछ किया है उसके लिए कभी हाथ न मलना, कभी न पछताना। तुमने अपनी खुशी पा ली है, बहुत मुश्किल से मिलनेवाली ख़ुशी!"

मैं इन्हें देखता रहता हूँ, देखता रहता हूँ कि कानों में दनियार की आवाज़ गूँजने लगती है। वह तो जैसे पुकार-पुकारकर मुझे कहता रहता है—"चल दो!" मतलब यह कि अब मुझे सफ़र की तैयारी करनी चाहिए। मैं स्तेपी लाँघकर अपने जन्म-स्थान, अपने गाँव में पहुँचूँगा। वहाँ नये रंग मेरा स्वागत करेंगे।

यही कामना है कि मेरी तूलिका के हर स्पर्श में दनियार का गीत गूँजे! यही चाहता हूँ कि मेरी तूलिका का हर स्पर्श जमीला के दिल की धड़कनों की दास्तान कहे!

इस किताब में मध्य एशिया की फूलती-फलती स्तेपियों, सच्चे प्रेम और साहस की लम्बी राह की कहानी कही गयी है।

"इस्सीक्-कूल झील की तरह जिसमें भावनाओं की गहराई हो, पहाड़ों के बीच की घाटी की तरह जिसका मन उदार हो, वही सबसे सम्मानित जीगित है," क़िर्ग़ीज़ जनता में ऐसा कहा जाता है। युवा क़िर्ग़ीज़ लेखक चंगीज़ आइत्मातोव ऐसे ही लोगों को अपनी साहित्यिक रचनाओं के पात्र चुनता है।

इस पुस्तक में एक चित्र की कहानी कही गयी है। यह चित्र कभी प्रदर्शित नहीं किया गया। इस चित्र में पहाड़ों और स्तेपियों के अद्भुत रंगों की झलक मिलती है। इससे हृदय को छूनेवाले एक लोक-गीत की गूँज सुनाई देती है। यही लोक-गीत एक क़िर्ग़ीज़ नवयुवक को जीवन की नयी प्रेरणा देता है। वह नयी ही दृष्टि से अपने को और दुनिया को देखने लगता है। यह मानिनी-गर्वीली रूपरानी जमीला की कहानी है।

•••••

"तियान-शान पर्वतमाला चीनी सीमा से सटी हुई है। यहाँ क़िर्ग़ीज़ रहते हैं। उन्होंने सोवियत काल में ही अपनी वर्णमाला और अपने जातीय साहित्य का विकास किया है। अब तो क़िर्ग़ीज़ गद्य का साहित्यिक मूल्यांकन करना भी सम्भव है।

"मेरे ख़्याल में मैं नयी पीढ़ी के क़िर्ग़ीज़ लेखकों में से एक हूँ। क़िर्ग़ीज़ लेखकों की यह नयी पीढ़ी पूर्व विद्यमान क़िर्ग़ीज़ साहित्यिक परम्परा और रूसी साहित्य की महान् परम्पराओं के आधार पर पनपी है।

"मेरा जन्म 1928 में हुआ। मैं एक टेकनिकल स्कूल और क़िर्ग़ीज़ कृषि-संस्थान से स्नातक हुआ। मैंने 1953 में लिखना शुरू किया। 1958 में 'जमीला' प्रकाशित की गयी। बाद में-'लाल रूमाल में पोपलार', 'पहला अध्यापक', 'खेत में' नामक लघु उपन्यास और 'ऊँट की आँख' नामक कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए।"

चंगीज़ आइत्मातोव